भारत

मूल्य दो रुपया

प्रकाशक—

द्वितीय संस्करण

फरवरी १९५८

मुद्रक—

हनुमान मुद्रण यंत्र,

पियरी कलाँ, वाराणसी

आत्मकथा

मेरा शैशव और यौवन, दोनों ही घोर दरिद्रता में व्यतीत हुए। अर्थाभाव के ही कारण मुझे पूरी शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। अस्थिर स्वभाव और साहित्यानुराग के अतिरिक्त पूज्य पिता जी से उत्तराधिकार रूप में मुझे और कुछ भी नहीं मिला। पिता के दिये हुए प्रथम गुण ने मुझे घर छोड़ देने को बाध्य किया। इस तरह अल्पावस्था में ही मैं समग्र भारत का भ्रमण कर आया और पिता के दूसरे गुण के फलस्वरूप मैं आजीवन केवल स्वप्न ही देखता रहा। मेरे पिता का पाण्डित्य अगाध था। छोटी कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, कविता—सारांश यह कि साहित्य के प्रायः सभी विभागों में उन्होंने हाथ लगाया था, किन्तु किसी को भी वे पूर्ण न कर सके। उनकी लिखित सभी सामग्री आज मेरे पास नहीं है। कब किस तरह वे खो गयीं, यह बात आज याद नहीं। किन्तु इतना तो अब भी मुझे स्पष्ट याद है, कि बचपन में कितनी ही बार अपनी असमाप्त रचनाओं को लेकर वह घण्टों उन्हीं में लगे रहते थे। वे उनको समाप्त न कर सके। इसके क्या कारण थे, यह सोचकर कभी-कभी मैंने बहुत ही दुःख का अनुभव किया। वे असमाप्त अंश क्या हो सकते हैं, यह सोचते-सोचते मैंने कितनी ही निद्राहीन रातें बिता दी हैं। इसी कारण, शायद सत्रह वर्ष की अवस्था में, मैंने गल्प लिखना शुरू भी किया। किन्तु, कुछ दिनों के बाद यह समझ कर कि, कहानी लिखना विज्ञों लोगों का काम है, मैंने गल्प लिखने का अभ्यास छोड़ दिया।

इसके बाद अनेक वर्ष बीत गये। किसी समय मैंने एक लाइन भी लिखी थी, इस बात को जैसे मैं भूल ही गया था। अठारह वर्षों के बाद एक दिन मैंने पुनः लिखना प्रारम्भ किया। इसका कारण दैव-दुर्घटना ही जैसा समझना चाहिये। उन दिनों मेरे कुछ पुराने मित्र एक छोटी-सी मासिक-पत्रिका प्रकाशित करने के उद्योग में संलग्न थे। किन्तु प्रतिष्ठित लेखकों में से किसी ने भी इस सामान्य पत्रिका में अपना लेख देना स्वीकार नहीं किया। निरुपाय होकर उनमें से किसी ने मुझे स्मरण किया। बड़ी चेष्टा से उन लोगों ने मुझसे लेखों की वसूली कर ली। यह सन् १९१३ ई० की बात है। संकोचवश ही मैंने ऐसा करना स्वीकार किया था। अतः किसी तरह जान बचाने के ख्याल से मैंने उन्हें लेख देना मंजूर किया था। उद्देश्य यह था कि किसी तरह एक बार रंगून पहुँच जाऊँ तो काम बन जायगा। किन्तु पत्र के बाद पत्र आते रहने से, और तारों की भरमार से, अन्त में, सचमुच ही मुझे कलम पकड़ने को विवश होना पड़ा और तभी से लिखने की प्रेरणा मुझे मिली। मैंने उनकी नव-प्रकाशित 'यमुना' के लिए एक छोटी-सी कहानी भेज दी। इस गल्प के प्रकाशित होते ही, बंगाल के पाठक-समाज में उसने अपना एक सम्मानित स्थान बना लिया। मैंने भी जैसे एक ही दिन में नाम पैदा कर लिया। उसके बाद तो मैं आज तक नियमित रूप से लिखता चला आ रहा हूं। बङ्ग देश में शायद मैं ही एक मात्र सौभाग्यशाली लेखक हूं, जिसे किसी प्रकार की बाधा या कष्ट भोगने की नौबत नहीं आयी।

—:o:—

नाटक

तुम्हारा यही प्रश्न है कि मैं नाटक क्यों नहीं लिखता? शायद दो कारणों से तुम्हारे मन में ऐसा प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। पहला यह,

कि नाट्यकार और दूसरे ग्रन्थकारों द्वारा लिखे गये उपन्यासों को नाट्य-रूप प्रदान करने वाले श्रीयुक्त योगेश चौधरी ने, सम्प्रति 'वातायन' पत्रिका में बंगाल नाटक के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रकट किया है, उसको तुम पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर सके हो, और दूसरा यह, कि तुम लोग निरन्तर जिन नाटकों का अभिनय देखते रहते हो, उनके भाव, उनकी भाषा, उनके चरित्र-गठन आदि पर विचार करने के बाद तुम लोगों के मन में यह बात जाग उठी है कि, शरच्चन्द्र यदि नाटक लिखें, तो सम्भव है, रङ्गमञ्च का कुछ कायाकल्प हो सके ?

तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मुझे पहली बात तो यह कहनी है, कि मैं नाटक नहीं लिखता। इसका कारण है, मेरी असमर्थता। दूसरा, इस असमर्थता को अस्वीकार करके यदि मैं नाटक लिखूँ भी तो उस हालत में जो पारिश्रमिक मुझे उससे प्राप्त होगा, उससे मेरा काम चल नहीं सकेगा। यह मत समझना कि मैं यह बात केवल रुपये पैसे के दृष्टिकोण से कह रहा हूँ। संसार में उसकी जरूरत तो पड़ती ही है, किन्तु वही एकमात्र जरूरत नहीं है, इस सत्य को मैं एक दिन के लिये भी नहीं भूलता। मासिक पत्र के सम्पादक उपन्यास को आग्रह के साथ स्वीकार करेंगे। उपन्यास छापने वाले प्रकाशकों की भी कमी नहीं है। अबतक तो मुझे इस बात की कभी कमी हुई ही नहीं। और मेरे उपन्यास के पाठक भी मुझे मिलते रहे हैं। फिर कहानी लिखने की कला मैं जानता हूँ। कम से कम—यह चीज मुझे लिखा दीजिये—ऐसा कह-कर किसी के द्वार पर जाने की नौबत अभी तक नहीं ही आयी। किन्तु नाटक! रङ्गमञ्चों के संचालक ही हैं, इसके चरम हाईकोर्ट। सिर हिलाकर यदि वे कह दें कि, [illegible] (action) कम है, तो फिर उसको चलने लायक बनाने का कोई उपाय नहीं रहेगा। उनकी सम्मति ही इस सम्बन्ध में अन्तिम बात होती है, क्योंकि वे [illegible] के विशेषज्ञ होते हैं। रुपया खर्च करके नाटक देखने वाले दर्शकों [illegible]

कला वे सब खूब जानते हैं। इसलिए इस विपत्ति में निरर्थक घुस पड़ने में मुझे संकोच मालूम होता है।

सम्भवतः मैं नाटक लिख सकता हूँ, क्योंकि, नाटक के लिये जो अत्यन्त आवश्यक वस्तु है—जिसके ठीक न होने से नाटक का प्रतिपाद्य विषय किसी तरह भी दर्शकों के हृदय में नहीं पहुँच पाता—वह होता है डायलाग और उसे लिखने का मुझे पूरा अभ्यास है। कोई बात किस तरह कहनी चाहिये, कितने सीधे रूप से कहने से वह मन को अभीत करेगी, उस कौशल की जानकारी मुझे न हो, ऐसी बात नहीं है। इसके सिवा चरित्र अथवा घटना-सृष्टि की बात यदि कहते हो, तो मुझे विश्वास है कि मैं यह काम भी अच्छी तरह कर सकता हूँ। नाटक में घटना या 'सिचुएशन' को चरित्र-सृष्टि के ही लिए लाना पड़ता है। चरित्र सृष्टि दो प्रकार से हो सकती है। एक है—प्रकाश अर्थात् पात्र-पात्री जो हैं, वही घटना—परम्परा की सहायता से दर्शकों के सामने प्रकट कर दिये जाँय। और दूसरा है—चरित्र के विकास अर्थात् घटना—परम्परा के बीच से उनके जीवन का परिवर्तन दिखाना! यह अच्छाई की तरफ भी हो सकती है और बुराई की तरफ भी। मान लो, कोई एक आदमी शायद बीस वर्ष पहले विलसन के होटल में खाया करता था, झूठ बोलता था और अन्य कुकर्म भी करता था, वही आज धार्मिक वैष्णव बन गया है—बंकिम चन्द्र के कथनानुसार—थाली में मछली का झोल पड़ जाने से उसे हाथ से पोंछकर फेंक देता है। तो भी, शायद यह उसका पाखण्ड नहीं है, उसका सच्चा आन्तरिक परिवर्तन है। सम्भवतः बहुत सी घटनाओं के भँवर में पड़कर, पाँच भले आदमियों के संस्पर्श में आकर, उनके द्वारा प्रभावित होकर, वह सचमुच ही बदल गया है। इस कारण बीस वर्ष पहले, वह जैसा था, वह भी सत्य है और आज वह जैसा हो गया है, वह भी सच है। किन्तु जैसा का तैसा होने से तो काम न चलेगा। पुस्तकों के जरिये, लेखों के जरिये पाठकों या दर्शकों

के समक्ष उसे सत्य रूप प्रदान करके प्रस्तुत करना होगा। उनको ऐसा न मालूम होने पावे कि लिखित विषय में इस परिवर्तन का कारण ढूँढने से नहीं मिल रहा है। और यह कार्य कठिन है। एक बात और है—उपन्यास की तरह नाटकों में elasticity नहीं होती। नाटक को एक निर्दिष्ट समय से अधिक आगे बढ़ने नहीं दिया जा सकता। घटना के बाद घटना को सजाकर, नाटक को दृश्य या अङ्क में बाँट देना—यह भी शायद चेष्टा करने से दुस्साध्य न होगा। किन्तु मैं सोचता हूँ, ऐसा करने से होगा क्या? मैं जो नाटक लिखूँगा, उसका अभिनय कौन करेगा? कुशल, शिक्षित, समझदार अभिनेता, या अभिनेत्री ही कहाँ हैं? नाटक की 'हिरोइन' कोई बन सकेगी, ऐसी एक भी अभिनेत्री नजर नहीं आ रही है। इसी प्रकार विविध कारणों से साहित्य की इस दिशा की तरफ कदम बढ़ाने की इच्छा नहीं होती। मुझे आशा है, एक दिन वर्तमान रंगालय का यह अभाव दूर हो जायगा, किन्तु हम तो शायद आँखों से वह सब देख न सकेंगे, अवश्य ही यदि ऐसा करने के लिये सच्चा तकाजा आया, तो शायद किसी दिन मैं भी नाटक लिख सकूँ। किन्तु मुझे इसकी आशा बहुत नहीं है।

—:※:—

कांग्रेस की कीर्ति

कांग्रेस ने भूल की है—ऐसा ही एक चीत्कार मैं कुछ दिनों से सुनता आ रहा हूँ। इस कोलाहल में कितनी सच्चाई है, शायद इस विषय में कोई विचार नहीं हुआ है।

मैं स्वयं किसी दिन भी अकस्मात् किसी ऐसे विषय की धारणा मन में नहीं ला सकता। जो लोग जोरदार शब्दों से प्रचार करते हैं कि, उनका

ही पक्ष प्रबल है, उनकी बात भी मैं सहज ही में स्वीकार नहीं कर लेता। इसीलिए कांग्रेस के विरुद्ध इस निंदात्मक प्रचार को भी मान लेना मेरे लिए कठिन है।

इस नव-आन्दोलन के जो अग्रणी हैं, वे एकनिष्ठ प्रवीण कर्मी हैं। इसी दृष्टि से मैं उनकी श्रद्धा करता हूँ। देश की राजनीतिक साधना के इतिहास में उनका स्थान कम है, ऐसा भी मैं नहीं समझता। किन्तु देश के लिए दुःख अनुभव करने की बोध-शक्ति कांग्रेस की अपेक्षा उनमें अधिक है, केवल इसी बात को प्रमाणित करने के लिए शायद देश में किसी भी नवीन दल के संगठन की आवश्यकता नहीं थी। कांग्रेस देश की सर्वापेक्षा बड़ी राजनैतिक संस्था है। कांग्रेस चिरकाल से ही साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि के विरुद्ध लड़ाई करती आयी है। आज उसे तुच्छ बनाने की चेष्टा से किसी का भी व्यक्तिगत गौरव जरा भी बढ़ा है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु देश का गौरव शायद इससे कुछ भी नहीं बढ़ा है।

जब तक देश सेवा का कार्य हमारा धर्म नहीं बन जाता, तब तक उसके भीतर कुछ खोखलापन रहता है, मैं प्रतिदिन ऐसा ही कुछ अनुभव करता हूँ। फिर जिस समय धर्म, देश के मस्तक के ऊपर उठ आता है, तभी विपद् उपस्थित होती है। महात्मा जी जानते हैं, और वर्किङ्ग कमेटी भी जानती है कि, उन्होंने कोई भूल नहीं की है। मालवीय जी और अणे के विरुद्धाचरण ने भी महात्मा जी को विचलित नहीं किया। इसलिए यदि वे कांग्रेस से सम्पर्क त्याग ही दें, तो उसके साथ इस गड़बड़ी का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। उनको असल भय सोशलिज्म से है। उनको धनवानों ने घेर रक्खा है। उनको व्यवसायियों ने घेर रक्खा है। समाजतान्त्रिकों को वे किस तरह ग्रहण करेंगे? हाँ, इस जगह महात्मा जी की दुर्बलता को अस्वीकार न करने से काम नहीं चलता।

एक बात मैं मानता हूँ कि बंगदेश के मुसलमान भी 'ज्वायण्ट इलेक्टोरेट' को अपनाना चाहते हैं। क्यों ऐसा नहीं हो पा रहा है तथा इस गल्ती की बुनियाद कहाँ है, इन बातों को वे लोग अच्छी तरह जानते हैं। इस बात को भी भूल जाने से काम नहीं चलेगा कि अधिकांश मुसलमान तहसीलदार, गुमाश्ता, वकील, डाक्टर, स्वजनों की अपेक्षा हिन्दुओं पर अधिक विश्वास करते हैं। इसके साथ ही साथ मेरा कथन यह भी है कि प्रत्येक हिन्दू भी हृदय प्राण से नैशनलिस्ट है। धर्म-विश्वास के मामले में भी वे किसी से कम नहीं हैं। उनके वेद, उनके उपनिषद् बहुत से मनुष्यों की बहुत-सी तपस्याओं के फल हैं। तपस्या का अर्थ ही है चिन्ता। बहुत लोगों की बहुत-सी चिन्ताओं के फल से यह धर्म अर्जित हुआ है।

शुभेच्छा

शारदीय पूजा बङ्गालियों का सबसे बड़ा उत्सव है। इसके प्रति बङ्गदेश की नर-नारियों में जो उत्सुकता रहती है, उसका कोई अन्त नहीं है। स्नेह का भी अन्त नहीं है। यही बात उनके आनन्द के विभिन्न पर्वों और विभिन्न गतियों से प्रकट होती है। कहीं तो यह अन्तर्मुखी है—मनुष्यों को अपने घरों को लौट आने की अत्यन्त उत्सुकता में, आत्मीय स्वजनों के समीप पहुँचने की कामना में, और कहीं तो यह बहिर्मुखी है—[illegible] बाहर चले जाने की जरूरत में, जो

अपरिचित हैं, अभी अनजान हैं, उनको स्वजन बनाकर जान लेने की व्याकुलता में। इस कारण, उस दिन जब शिलांग पहाड़ निवासी हेमचन्द्र ने आकर कहा, इस बार पूजा के अवसर पर हम एक समाचार पत्र निकालेंगे, तब मैं विस्मित नहीं हुआ। मैंने सोचा, यह अच्छा ही हुआ कि इन लोगों के आनन्दोत्सव की धारा इस बार साहित्य सेवा की ओर प्रवाहित होगी। इस आयोजन को सम्पूर्ण और सुन्दर बनाने में परिश्रम है, व्यय है—इसे छोड़िये, तो भी, सभी बाधाओं का अतिक्रमण करके भी एकाग्र-साधना की जो सफलता वाणी के प्रसादरूप में वे लोग पा जायँगे, उससे निष्कलंक आनन्दरस मधुरतर एवं दीप्ततर हो उठेगा।

किन्तु एक बात कहने की जरूरत है। मैं जानता हूँ, मेरी इन कुछ पंक्तियों के लिखने का मूल्य कुछ भी नहीं है, और ऐसा सम्भव भी नहीं है, क्योंकि जिनकी शक्ति प्रायः समाप्त हो चुकी है, जिनकी आयु अस्तोन्मुख है, उनसे कुछ भी आशा करना ठीक नहीं। तो भी, मेरी इन पंक्तियों से इस पत्रिका की कोई हानि न होगी। साहित्यव्रत में जो लोग नवीन पथिक हैं, जो उदीयमान हैं, जिनका वेग चञ्चल और गति-शील है, इस वाणी-पूजा का महत अर्घ्य उनके पास से ही समाहृत होगा, यही मुझे आशा है। शिलांग के बङ्गाली अधिवासियों की तरफ से हेम ने केवल मुझसे ही आशीर्वाद माँगा था; अपनी शरदवार्षिकी के लिए शुभकामना! एकान्त मन से मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि, उनका प्रयत्न, उनकी साधना सार्थक हो। इस वार्षिक साहित्यिक पत्रिका की आयु सुदीर्घ होवे। यह इसी प्रकार प्रति वर्ष प्रकाशित होती रहे।

—:o:—

५६ वें जन्मदिवस पर श्री शरच्चन्द्र का भाषण

प्रति वर्ष भादों की अन्तिम तिथि को—अपने जन्म-दिवस पर Indian State Broadcasting के अधिकारियों की श्रद्धा और प्रीति का निदर्शन मुझे उनके स्नेहपूर्ण आह्वान द्वारा मिला करता है। शुभकामी, शुभभाषी मित्रगण Studio Hall में समागत होते हैं। मुझे वे प्यार करते हैं। बेतार-संस्था के सहयोग और सौजन्य से वे देश में सर्वत्र मेरे सम्बन्ध में वार्ता प्रसारित करके आनन्द लाभ करते हैं। आज कृतज्ञता-ज्ञापन मात्र से ही मेरे कर्तव्य की समाप्ति नहीं होती। अदृश्य में, अलक्ष्य में बैठकर जिन लोगों ने मेरी यह बात सुनी है, आज उनको मैं श्रद्धायुक्त नमस्कार करता हूँ।

किन्तु यह जो सम्मान है, वह केवल मेरे व्यक्तित्व मात्र को अवलम्बन करके नहीं है, मेरे भीतर जो वाणी के साधक हैं, यह सम्मान उनका है तथा ऐसे और भी बहुतों का—जिन्होंने मेरी ही तरह मनुष्यों के सुख दुःख, उनके आनन्द और उनकी व्यथा, आशा और आकांक्षा, रूप से 'रस से' समुज्वल भाषा के बीच से उनके ही सम्मुख प्रकट करने की साधना ग्रहण की है। इस कारण आज के इस विशेष उपलक्ष्य को यदि मैं अपना ही न समझ लूँ, तो सहज ही में कहा जा सकता है कि, बेतार-संस्था का यह आयोजन देश की साहित्य-सेवा का ही आयोजन है। वे लोग धन्यवाद के पात्र हैं।

एक वर्ष पहले इसी उपलक्ष्य में जिस दिन मैं यहाँ आया था, आज उसी दिन की बात मुझे याद पड़ रही है। सुख से, दुख से, आनन्द से, निरानन्द से, कितने ही विचित्र भावों से यह एक वर्ष बीत गया। उस दिन जो लोग श्रोता थे, उनको मैं नहीं पहचानता, तो भी वे लोग मेरे स्वजन हैं। शायद उनमें से कोई-कोई आज नहीं हैं, शायद मृत्यु आकर उनको हमारे बीच से हटा ले गयी। फिर शायद कितने ही नवीन जनों ने आकर उनके शून्य स्थानों को पूरा कर [illegible] है। यही [illegible]

है इस जगत् का। इसी तरह मैं भी यहाँ एक दिन न आऊँगा, उस दिन ३१ वें भादों की जन्मतिथि का अनुष्ठान बन्द हो जायगा। फिर किसी नूतन साहित्य-सेवी का जन्मदिवसोत्सव आज के शून्य स्थान की पूर्ति कर देगा। बेतार संस्था चिरञ्जीवी होवे—नूतन आविर्भाव की शुभवार्ता वे लोग इसी तरह सर्वत्र फैलाते रहें।

मेरे कण्ठ-स्वर से लोग आज मेरी बात सुनने आये हैं, उनको मैं देख तो ज़रूर नहीं पा रहा हूँ किन्तु मालूम होता है मानो नेपथ्य के अन्तराल में उनके निःश्वास के शब्द मुझे सुनाई पड़ रहे हैं। कोई दूर है, कोई निकट है—उनके प्रति मैं अपने कृतज्ञ चित्त का धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

साहित्य-सम्मेलनों का उद्देश्य

आप लोग यहाँ भिन्न-भिन्न स्थानों से पधारे हैं। यहाँ आ जाने से हम लोगों में परस्पर भेंट मुलाकात हुई, आलाप परिचय हुआ। पहले जिन सभा-समितियों में मैंने भाग लिया था, उनके बारे में यही आक्षेप किया जाता था कि सभा में मैंने भाग तो जरूर लिया, किन्तु परस्पर के साथ आलाप-परिचय नहीं हो पाया। यह एक समुन्नत साहित्य-सभा है, साहित्य मेरा पेशा है, जीविका भी यही है। इस चीज को आरम्भ करके मैं अब तक क्या कर सका हूँ, और क्या नहीं, इसे आप पाँच जने ही जानते हैं।

आप लोग मुझे भाषण देने को कहते हैं! पहले तो मैं बोल भी नहीं सकता, गला भी नहीं है। फिर कोई बात भी ढूंढने से मुझे नहीं मिलती, तो भी आप लोग समझते हैं, कुछ न कुछ मुझे कहना ही

चाहिये, इसी से काम चल जायगा। न हो तो अपने आत्म-विश्वास की ही बात कहिये, या आत्म सम्मान की ही बात कहिये। अच्छी बात है, मैं चेष्टा करता हूँ।

साहित्य के मामले में मैं बहुत पहले से ही कहता चला आ रहा हूँ, और शायद ऐसा करने में किसी मिथ्या का आश्रय नहीं ले रहा हूँ। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वस्तु साहित्य ही हो। अवश्य ही सत्य वस्तु ही साहित्य नहीं है। संसार में ऐसी अनेक बातें है जो सत्य हैं किन्तु साहित्य नहीं। मेरा मतलब यही है कि, नींव ही की तरह सत्य मिट्टी के नीचे ही रहे, तो उस हालत में उसके ऊपर जिस महल को मैं कल्पना द्वारा खड़ा कर दूँगा, वह सहज ही में ढहा नहीं जायगा। अपने जीवन में मैंने ऐसा कई बार देख लिया है। मेरे लिखित विषयों को देखकर बहुतों ने कहा—'यह तो भारी अस्वाभाविक है।' इस मुँह से इस किस्म की बातें निकलीं। साहित्य यदि सच्चे ज्ञान के आधार पर खड़ा न रहे, तो उस हालत में सन्देह आ जाता है। जब किसी बात के लिये पाँच आदमी कह ही रहे हैं, तब उसे क्यों न बदल ही दूँ? भले ही मनुष्य भूल कहे, या चाहे जो कुछ भी—लेकिन जब वह जानता है कि, इसकी भित्ति सत्य के ऊपर है, तब मन में कोई इस तरह का सन्देह आ ही नहीं सकता कि, अमुक विचार को बदल डाला जाय। इसीलिए मेरे लिखित विषय में, जो कुछ भी होता है, वह एकदम ही हो जाता है, फिर बाद को मैं उसमें काट-छाँट नहीं करता।

आप लोगों को, जहाँ भी सन्देह हो, मुझसे पूछिये, मैं उत्तर देने से नहीं भागता। इससे साहित्य-सम्मेलन का जो महान् उद्देश्य है, उसकी सार्थकता सिद्ध होगी। यह जो Rigidity (कठोरता) की भावना है, उसे आज बदलने की जरूरत है। बहुत सारे लोग साहित्य-सभा में भाग लेते हैं, किन्तु यहाँ से जाते समय वे यही सोचते हैं कि, इतना खर्च करके तो इतनी दूर से हम आये लेकिन यहाँ कार्य कौन सा किया

गया। यहाँ जो निबन्ध पढ़े जाते हैं, उन्हें बारह आना लोग सुनते ही नहीं। और यदि सुनते भी हैं तो तुरन्त ही उन्हें भूल जाते हैं।

इसीलिए मैं कह रहा था, यदि कोई मेरे साथ परिचय करना चाहते हों, यदि किसी को कुछ सन्देह हो, तो सहर्ष आगे आने की कृपा करें। आपस में मिलजुल कर हमलोग बातें कर लें, आलोचना कर लें, शङ्का समाधान कर डालें। फिर आज की सन्ध्या का अनुष्ठान भी तो यही है।

भाग्य-विडम्बित लेखक-सम्प्रदाय

उस दिन विचारपूर्वक हिसाब लगाकर मैंने समझ लिया—जो लोग यथार्थ साधना करते हैं, साहित्य जिनका केवल विलास नहीं है, साहित्य जिनके जीवन का एकमात्र व्रत है, ऐसे जितने भी लोग इस देश में हैं, उनकी संख्या तो अँगुलियों पर गिनी जा सकती है।

ये साहित्य-सेवी अक्लान्त परिश्रम कर, भूखे रह, रात-रात जागकर देश के लिए साहित्य रचना करते हैं। सुनता हूँ वह साहित्य जन-समाज का कल्याण करता है, किन्तु हम क्या उसका मूल्य उन्हें दे पाते हैं?

जिन साहित्यिकों ने देश के लिए प्राणों की बाजी लगा दी, उनको इस त्याग और बलिदान का पुरस्कार दरिद्रता और लाञ्छना के रूप में मिला। साहित्यसेवी बहुत अधिक धन-सम्पत्ति अर्जन कर वित्तशाली एवं धनवान होना नहीं चाहते। वे चाहते हैं केवल थोड़ा सा स्वच्छन्द जीवन, सर्वनाशकारी दरिद्रता के घोर अभिशाप से मुक्ति। वे चाहते हैं केवल निश्चिन्तता से लिखने योग्य अनुकूल जलवायु, किन्तु दुख है कि, उनको यह सुलभ नहीं। उन्हें आजीवन केवल भाग्यविडम्बित

होकर ही समय बिताना पड़ता है। जिनकी कल्याण-कामना करते करते उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, वे एक बार भूले से भी उनकी ओर आँख उठाकर देखते नहीं।

देश के लोग उन साहित्यसेवियों को कुछ भी नहीं देते, किन्तु वे उनसे पाना बहुत चाहते हैं। यदि कहीं किसी की रचना जरा भी खराब हुई नहीं, कि बस उसी क्षण समालोचना के विष से और निन्दा के तीक्ष्ण शर से उस साहित्य-सेवी को जर्जरित कर डालेंगे।

इस अतिनिन्दित गल्प-लेखकों के दैन्य की कोई सीमा नहीं। इनके लिखित विषयों को पढ़कर सर्व साधारण आनन्द तो जरूर पाते हैं, किन्तु यदि उनके घरों की खबर ली जाय तो मालूम होगा कि, यह लेखक सम्प्रदाय कितना दरिद्र है, कितना निस्सहाय है। बहुतों के उपन्यासों का तो शायद द्वितीय संस्करण हो ही नहीं पाता।

किन्तु ऐसा क्यों होता है!

इसका एकमात्र कारण यह है कि हमारे देश के लोग पुस्तकें तो जरूर पढ़ते हैं, किन्तु पैसा खर्च करके नहीं। यहाँ यह बात शायद कही जा सकती है कि हमारे देश के जनसाधारण दरिद्र हैं, पुस्तकें खरीदने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। किन्तु जिनमें सामर्थ्य है, ऐसे अनेक बड़े लोगों के घर में जा चुका हूँ। वहाँ जाकर मैंने देखा है, उनके पास चीजें है, मकान हैं, गाड़ी है, विलास-व्यसन के सहस्रों उपकरण हैं, केवल पुस्तकें नहीं है। पैसा खर्च करके पुस्तकें खरीदना उनमें से बहुतों के ही लिए अपव्यय के सिवा और कुछ नहीं जान पड़ता।

फिर भी गल्प लेखकों के विरुद्ध जितने अभियोग लगाये जाते हैं, उनका कोई अन्त नहीं। सम्प्रति मैं यही सुन रहा हूँ कि, वे लोग अच्छा नहीं लिखते। क्यों नहीं अच्छा लिखते, यदि यही प्रश्न कोई मुझसे करे तो मैं कहूँगा—जिन लोगों में शक्ति है, वे अर्थाभाव से, दरिद्रता के उत्पीड़न से इस तरह निष्पेषित हैं कि, कोई भी अच्छी चीज लिखने की

इच्छा रहने पर भी उनको अवसर नहीं मिलता, अथवा उनकी इच्छा भी नहीं होती।

इस स्थिति का प्रतिकार करना सबसे पहले आवश्यक है। सबसे पहले देश के साहित्यिकों का अर्थाभाव दूर करने की व्यवस्था करनी होगी, वे अच्छी पुस्तकें लिख सकें, इसके लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना होगा। ऐसा करने से ही साहित्य की रक्षा होगी, नहीं तो अचिर भविष्य में उसकी क्या अवस्था होगी, भगवान् ही जानें।

हमारे देश के बड़े लोग यदि कर्तव्य-पालन की नीयत से एक-एक पुस्तक खरीदें, तो उस अवस्था में भी इसके प्रतिकार की कोई व्यवस्था हो जायगी। पुस्तकें न खरीद कर भी अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाकर वे लोग साहित्य को समृद्ध बना सकते हैं। किन्तु क्या वे ऐसा करेंगे?

पुराने युग में बड़े-बड़े राजा लोग अपने दरबार में कवियों को रख-कर उन साहित्यिकों की जीवन-वृत्ति की व्यवस्था कर देते थे और अनेक प्रकार से साहित्यकों को उन्नति करने का सुयोग देते थे। आज कल वह दशा भी नहीं रही।

जो लोग शौक से साहित्य-सेवक बने हैं, उनके विषय में मैं कुछ भी नहीं कहता। भगवान् की कृपा से जिनके लिए अन्न की व्यवस्था है, साहित्य जिनके लिए विलास की सामग्री है, उनकी बात ही दूसरी है। शायद वे लोग कहेंगे—यह अन्न-चिन्ता वल्गर है, ऐसा करने से साहित्य की श्री नष्ट हो जायगी। इसकी चिन्ता बाद को करने से भी काम चलेगा।

बाद को अन्न-चिन्ता करने से, जिनका काम चल जाता है, भाई, वे लोग वही करें, उनकी चर्चा मैं यहाँ न करूँगा। मैं केवल उन अभागों

की ही बात कह रहा हूँ—जिनकी अस्थि में, मज्जा में, साहित्य में, अत्युग्र विष की प्रक्रिया शुरू हो गयी है, साहित्य-सृजन जिनका जन्मगत अधिकार है, जिनके रग-रग में सृजन और सृष्टि की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है, ये सब उन्मादी व्यक्ति होते हैं। ये दारिद्रय एवं लाञ्छना के बीच बैठकर भी लिखते रहेंगे, यह मैं जानता हूँ। न लिखने से वे जीवित ही न रहेंगे। इसीलिए जितने दिन वे जीवित रहते हैं, उतने दिन तक तो उनके लिये दो मुट्ठी अन्न की व्यवस्था होनी ही चाहिये। ये साहित्यिक दूसरों के लिये जी रहे हैं। ये उत्सर्ग और परोपकार की दीप-शिखा के लौ हैं। यदि अन्नाभाव से अकाल में ये दीपक बुझ गये—तो उससे देश का महान अमङ्गल होगा। बस आप लोग केवल इतनी ही बात आज जान रक्खें।

—:o:—

पुस्तकों का दुःख

कुमार मुनीन्द्रदेव राय जी की वक्तृता सुनकर, और कुछ भले ही न हो, पर कम से कम हमारा तो एक उपकार अवश्य ही हुआ। यूरोप के बहुत से ग्रन्थागारों के सम्बन्ध में वे जो कुछ कह गये, उनमें से बहुत सी बातें तो हमें याद न रहेंगी। किन्तु आज उनकी वक्तृता सुनकर हमारे मन में एक आकुलता जाग उठी है। यूरोप के ग्रन्थागारों की अवस्था जैसी समुन्नत है, वैसी अवस्था हमारे देश में कब होगी—इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। किन्तु जितना होना सम्भव है, उसके लिए चेष्टा करना हमारे लिए उचित है। चारों तरफ से यही अभियोग लगाया जाता है कि हमारे ग्रन्थागारों में अच्छी पुस्तकें नहीं हैं।—हैं भी तो केवल

वाहियात नावेल। हमारे लेखकगण ज्ञानपूर्ण पुस्तकें नहीं लिखते। वे केवल गल्प लिखते हैं। किन्तु वे लिखेंगे कहाँ से ? इन अतिनिन्दित गल्प-लेखकों के दैन्य की सीमा नहीं। बहुतों के उपन्यासों के तो शायद द्वितीय संस्करण भी नहीं निकल पाते। इन उपन्यासों से जो कुछ भी लाभ होता है, वह किसके पेट में प्रवेश कर जाता है, यह न बताना ही अच्छा है। बहुतों को शायद इसकी धारणा ही नहीं है, कि यह लेखक सम्प्रदाय कितना विपन्न, दरिद्र एवं निस्सहाय है।

किन्तु विलायत में गल्प-लेखकों की अवस्था भिन्न है। वे धनवान हैं। उनमें से एक-एक की शान-शौकत की, आमदनी की, हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थोड़े ही समय के भीतर उनकी पुस्तकों के, संस्करण के बाद संस्करण निकलते रहते हैं। क्योंकि, उस देश में अन्ततः सामाजिकता की भावना से भी प्रेरित होकर लोग पुस्तकें खरीदते हैं। किन्तु हमारे देश में ऐसी बात नहीं है। उस देश में हर घर में ग्रन्थागार रखना उच्चवंशीय होने की निशानी है। सभी शिक्षित व्यक्तियों को पुस्तकें खरीदने का अभ्यास है। यदि वे न खरीदें तो उनकी निन्दा होती है—शायद कर्तव्य की भी त्रुटि होती है। जिन लोगों की अवस्था ठीक है, उनकी तो कोई बात ही नहीं है। उनमें से प्रत्येक के ही घर में एक-एक बड़ा ग्रन्थागार मिलेगा। पढ़ने के लिए लोग उसमें रहें या न रहें किन्तु ग्रन्थागार रखना तो जैसे इनका एक सामाजिक कर्तव्य है। किन्तु हम लोग कितने दुर्भाग्यग्रस्त जाति के हैं। हमारे यहाँ शिक्षित लोगों में भी पुस्तकें रखने का चलन नहीं है। बहुत से लोग शायद मासिक पत्रिका के पृष्ठों से समालोचना के बहाने गाली-गलौज का उपकरण संग्रह कर लेते हैं। यदि आप पता लगावें तो देख सकेंगे, उनमें से बहुतों ने मूल पुस्तक तक भी नहीं पढ़ी है। मैं स्वयं ही एक साहित्य-व्यवसायी हूँ। बहुत सी जगहों से मुझे निमन्त्रण मिलते हैं। बहुत से बड़े आदमियों के घर भी जा चुका हूँ। पता लगाकर मैंने देखा तो यही ज्ञात हुआ कि

उनके पास सब कुछ तो है, केवल ग्रन्थागार नहीं है। पुस्तकें खरीदना उनमें से बहुतों के लिए अपव्यय के सिवा और कुछ भी नहीं है। जिनके पास कुछ पुस्तकें रहती भी हैं, तो वे भी कुछ ही चमकदार पुस्तकें बाहरी कमरे में सजा कर रखते हैं। किन्तु बङ्गला पुस्तकें तो बिलकुल ही नहीं खरीदते।

यही कारण है—जिनको आप ज्ञानपूर्ण पुस्तकें कहते हैं, उनकी रचना बङ्गला में नहीं होने पाती। वे बिकती ही नहीं, इसलिए प्रकाशक वैसी किताब छपाना नहीं चाहते। वे कहते हैं, इन पुस्तकों की माँग नहीं है, ले आओ गल्प-उपन्यास। लोग समझते हैं, उपन्यास लिखना बहुत ही सहज है। मुहल्ले के लोग शुभाकांक्षी होते हैं। वे असमर्थ आत्मीय-जनों को परामर्श देते हुये कहते हैं, तू कुछ भी नहीं कर सकता, तो जाकर कम से कम होमिओपैथी सीख ले। किन्तु सच यह है कि होमियो-पैथी की तरह कठिन काम बहुत ही कम है। इसका कारण यह है कि, जो चीज सबसे मुश्किल है, उसको बहुत से लोग सबसे आसान मान लेते हैं। भगवान् के भी सम्बन्ध में लोग बहुत बातें करते हैं, उनके सम्बन्ध में आलोचना करने में किसी को कभी विद्या बुद्धि का अभाव नहीं होता।

गल्प-लेखक के विरुद्ध अभियोग उपस्थित करने से क्या होगा? अर्थाभाव से कितनी अच्छी-अच्छी कल्पनाएँ—कितनी बड़ी-बड़ी प्रतिभाएँ नष्ट हो जाती हैं, इसकी खबर कौन रखता है। युवावस्था में मुझे भी एक कल्पना थी—एक ऊँची आशा थी, कि "द्वादश मूल्य" नाम देकर मैं एक volume तैयार करूँगा। जैसे—सत्य का मूल्य, मिथ्या का मूल्य, दुःख का मूल्य, नर का मूल्य, नारी का मूल्य—इसी प्रकार मूल्य विचार अभीष्ट था [illegible] युग में मैंने "नारी का मूल्य" लिख [illegible] अप्रकाशित पड़ी रही। बाद को 'यमुना' पत्रिका में प्रकाशित तो जरूर हुई, किन्तु उस 'द्वादश

मूल्य' को मैं फिर समाप्त न कर सका, इसका कारण है अभाव। मेरे पास जमीन्दारी नहीं है, रुपये नहीं हैं। तब तो मेरी ऐसी हालत थी कि दोनों वक्त के लिए भोजन जुटाने के लिए पैसे तक नहीं थे। प्रकाशकों ने उपदेश दिया, इस तरह काम न चलेगा। तुम जैसे भी हो दो-चार उपन्यास लिख डालो। बाजार में उनकी खपत एक हजार की संख्या में तो हो ही जायगी। हमारी जाति की विशेषता कहें या दुर्भाग्य, कि लोग पुस्तकें खरीद कर हम लेखकों की सहायता नहीं करते हैं। यहाँ तक कि जिनकी अवस्था अच्छी है, वे भी ऐसा नहीं करते। वरन् अभियोग उपस्थित करते हैं कि उपन्यास पढ़कर क्या होगा? फिर भी, आज अन्तःपुर में जितना भी स्त्री-शिक्षा का प्रचार हुआ है, उसका सारा श्रेय इन गल्पों को है।

कितने ही बड़े-बड़े कवि उत्साह का अभाव रहने के कारण नाम और कीर्ति का अर्जन न कर सके। परलोकगत सत्येन दत्त की शोक सभा में जाकर मैंने देखा था, बहुत से लोग सचमुच ही रो रहे थे। तब मैंने अत्यन्त क्षोभ के साथ कहा था—कड़ी बात कहने का मुझे अभ्यास है, ऐसे स्थानों में कभी-कभी कड़ी बातें मैं कह भी देता हूँ। उस दिन मैंने कहा था—इस समय आप लोग रोना-धोना मचा रहे हैं, किन्तु क्या जानते हैं कि बारह वर्षों में उनकी पाँच सौ पुस्तकों की भी बिक्री नहीं हो सकी। बहुत से लोग शायद उनकी सभी पुस्तकों का नाम तक भी नहीं जानते। फिर भी आज आप लोग आँसू गिराने आये हैं।

हमारे देश के जितने बड़े आदमी हैं, वे यदि कम से कम सामाजिक-कर्तव्य पालन के ध्येय से भी पुस्तकें खरीदें, अर्थात् जिससे देश के लेखकों की सहायता हो—ऐसी चेष्टा वे करें, तो उससे साहित्य की बहुत उन्नति होगी। लेखकों को उत्साह मिलेगा, भरपेट भोजन मिलेगा, खुद उन्हें भी तरह-तरह की पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिलेगा। इसके

फलस्वरूप उनका भी ज्ञान बढ़ेगा, तभी तो बेचारे लेखक ज्ञानपूर्ण पुस्तकें लिख सकेंगे।

राय महाशय की वक्तृता सुनकर एक और बात विशेष रूप से हमारी नजर में पड़ जाती है। विदेश में जो कुछ हुआ है, उसे वहाँ की साहित्यप्रेमी जनता ने किया है। वे सभी सम्पन्न हैं। उन्होंने मोटी-मोटी रकमें दान में दी हैं, जिनसे बड़ी-बड़ी संस्थाएँ कायम हुई हैं। हम लोग प्रायः ही सरकार की निन्दा करते रहते हैं, गालियाँ सुनाते रहते हैं। किन्तु हमारे ही यहाँ देश-बन्धु के स्मृति भण्डार की पूर्ति किस परिमाण में हुई है? उन्होंने देश के लिए क्या नहीं किया? उनकी स्मृति—रक्षा के लिए कितने आवेदन किये गये। किन्तु वह भिक्षापात्र आज तक भी आशा के अनुरूप पूर्ण नहीं हो सका। किन्तु इङ्गलैण्ड में 'वेस्ट मिनिस्टर एबे' के एक कोने में जब दरार पड़ गयी, तो वहाँ के डीन ने बीस लाख पौण्ड के लिए एक अपील निकाली। कुछ ही महीनों में उस कोष में इतने पैसे आ गये कि अन्त में उनको उस फण्ड को बन्द करने के लिये बाध्य होना पड़ा। किन्तु दाताओं ने नाम के लिए यह दान नहीं किया, यह बात इसी से स्पष्ट समझ में आ जाती है कि समाचार पत्र में किसी भी दाता का नाम नहीं निकलता था। इतना सम्भव तभी होता है जब लोगों में स्वदेश के सम्बन्ध में एक प्रबुद्ध मन तैयार हो जाता है।

मेरी प्रार्थना है कि कुमार मुनीन्द्रदेव राय महाशय दीर्घजीवी हों। अपने इस आरम्भ किये गये कार्य में वे उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करें। उनकी बातें सुनने से हमारे मन में आकुलता जाग जाती है। जिनमें जिस परिमाण में शक्ति हो, वे उसी परिमाण में लाइब्रेरी आन्दोलन के लिए दान दें, तो देश का काम बहुत आगे बढ़ जायगा। हमें शायद इस कार्य का सुपरिणाम देखने का अवसर न मिले किन्तु मुझे आशा है, इस समय जो लोग युवक हैं—जो उम्र में छोटे हैं, वे निश्चय ही इस कार्य का कुछ अच्छा फल देख सकेंगे। "[illegible]" को

चेष्टा से जो ये सब मूल्यवान बातें सुनी गयीं, उसके लिए वक्ता और सभ्य लोगों को मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ। आज मुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ। कहाँ है यूरोप और कहाँ है हमारा यह अभागा देश! युग-युगान्तर का पाप संचित हो चुका है। एकमात्र भगवान् की विशेष करुणा के अतिरिक्त परित्राण की तो कोई आशा मैं नहीं देखता।

—:०:—

साहित्यालोचन

आजकल जितने भी साहित्य-सम्मेलन होते हैं, उन अधिवेशनों में प्रायः मुझे यही देखने में आता है कि, अति आधुनिक साहित्य की खूब ही निन्दा की जाती है। ऐसी बात नहीं कि मैं अति आधुनिक साहित्य की प्रशंसा कर रहा हूँ। मेरा वक्तव्य यह है कि इस तरह की आलोचना न होना ही अच्छा है क्योंकि, इस प्रकार लिखना चाहिये या इस प्रकार लिखना उचित नहीं है—यह कहने से कुछ विशेष लाभ नहीं होता। जिसकी जैसी शिक्षा है, जिसकी जैसी दृष्टि है, जिसकी जैसी शक्ति है, जिसकी जैसी रुचि है—वे उसके ही अनुपात से साहित्य-निर्माण करते हैं। इन साहित्यों में जो टिकने योग्य हैं, वे टिकेंगे और जो टिकने योग्य नहीं है, वे लुप्त हो जायँगे।

साहित्य निर्मित होता है युगधर्म से—समालोचना अथवा सहयोगिता से उसका निर्माण नहीं होता। सभी वस्तुओं की एक क्रमोन्नति होती है, केवल साहित्य के विषय में ही ऐसी बात नहीं है। कालिदास के बाद शकुन्तला को यदि और अच्छा बना देने की किसी में शक्ति होती, तो

उस हालत में जितने लोग उसे पढ़ चुके हैं, जितने लोगों ने उसका अनुकरण किया है, जितने लोग उसे अच्छा कह चुके हैं—वे शकुन्तला से उत्तम नाटक की रचना कर चुके होते, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इस सम्बन्ध में महाकवि कालिदास जो कुछ लिख गये हैं, वही आज तक महान बना हुआ है। रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करके बहुतों ने बहुत कुछ लिख डाला है, किन्तु रवीन्द्रनाथ की रचना और उन अनुकरणों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

बहुत से लोग शायद कह सकते हैं कि नूतन साहित्य के सम्बन्ध में मैं विरुद्ध मत व्यक्त करता हूँ—किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मैं काल के ऊपर निर्भर करके बैठा हुआ हूँ। मैंने जो कुछ लिखा है, वह भविष्य में टिका रहेगा यदि वह टिकने योग्य हुआ, नहीं तो लुप्त हो जायगा। मनुष्यों के अच्छा या खराब लगने के ऊपर कोई भी साहित्य निर्भर नहीं करता—वह अपने प्रयोजन से आप ही आप जो होता है, वह सिद्ध हो जाता है। समाज में, जीवन में, परवर्ती काल में यदि लोग इसे आवश्यक न समझेंगे तो वह टिका न रहेगा। इस कारण इस श्रेणी की आलोचना से कुछ भी लाभ नहीं होता। इससे केवल साहित्यिकों में एक तरह का खिंचाव, विरोध की भावना का आविर्भाव होता है। फरमाइश से साहित्य निर्मित नहीं होता। इससे तो यही कहना अच्छा है—तुम लोगों की शुभ बुद्धि के ऊपर मैं निर्भर करके पड़ा हुआ हूँ। जिस बात से साहित्य बड़ा हो उठे, अपनी बुद्धि और विद्या के द्वारा वही करो।

---

(२४)

विद्यासागर कालेज में वक्तृता।

मेरे जन्म दिन के उपलक्ष में कालेज के अध्यक्ष, प्रिन्सिपल महोदय तथा सभी छात्र-छात्रायें आज यहाँ उपस्थित हैं। सबने मेरे दीर्घ जीवन की कामना की है। मुझे आनन्द देने के लिए मेरी ही पुस्तकों से नाटकों के कुछ अंशो का अभिनय भी किया गया है। इसके लिए मैं तुम सब छात्रों को अपना परम प्यार अर्पित करता हूँ। मुझे आनन्द देने के लिए आज तुम लोगों ने तरह-तरह की तैयारियाँ की हैं—तुम्हारे समस्त आयोजनों को मैं हृदय से ग्रहण कर रहा हूँ। किन्तु अस्वस्थ शरीर लेकर, इस वृद्धावस्था में तुम लोगों की सभी बातों में भाग लेने के लिए अधिक देर तक यहाँ बैठा रहना मेरे लिए सम्भव नहीं है। इसी कारण, तुम लोगों के अभिनय के बीच में ही मुझे कह देना पड़ा—मुझे छोड़ दो। तीन बजे मैं घर से निकल पड़ा था, बहुत Strain पड़ रहा है, शरीर अत्यन्त अस्वस्थ है। जब उम्र बढ़ जाती है, तब स्थिरता नहीं रहती। किस दिन कौन न रहे, इसका ठिकाना नहीं। आज जब सुयोग मिला और तुम लोगों ने कहा—३१ भादों को विद्या सागर कालेज में आना पड़ेगा, तब मैं इसलिए राजी हो गया कि, अगले वर्ष, ऐसा सुयोग कौन जाने, मिले या नहीं। तुम लोगों के सामने मेरा आवेदन या निवेदन जो कुछ भी समझो वह यही है—तुम लोग जब बड़े होगे, तब हमलोगों का नाम तुम लोगों के सामने रहेगा या न रहेगा, मैं नहीं जानता। शायद उस समय देश की रुचि में ही कुछ इस तरह का परिवर्तन हो जाये कि तुम लोग हमलोगों की किताबें न पढ़ो और ऐसा होना कोई आश्चर्य की भी बात नहीं। संसार में ऐसा बहुत होता आया है, हो चुका है, ऐसी सारी किताबें पुरानी लाइब्रेरी में पड़ी रहती हैं, लोग उनकी प्रशंसा करते हैं, किन्तु पढ़ते नहीं। बङ्ग देश के अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थकारों के भाग्य में ऐसा ही हुआ है, शायद हमारे भाग्य में

भी वही बढ़ा हो। यदि ऐसा हो भी जाय तो मैं उसे दुर्दिन न मानूँगा। मैं यही समझ लूँगा कि, देश का साहित्य, अब इतना बड़ा हो गया है, इतना अच्छा हो गया है कि, ये पुस्तकें अब उसके सामने तुच्छ हैं। बंगदेश के दो-चार आदमियों का व्यक्तिगत जीवन ही श्रेष्ठ नहीं होता। श्रेष्ठ होता है जातीय साहित्य और उसकी भाषा। इस सम्बन्ध में मुझसे जितनी चेष्टा हो सकी, उतनी मैंने की। उसे जिस हद तक बढ़ा सका, उस हद तक मैंने बढ़ा दिया। ऐसी बात न होती तो इतने लोग मुझे प्यार न करते। मैंने जो कुछ किया है, वह यदि न रहे, मान लो और भी बीस वर्ष पश्चात्, तो उस हालत में, मैं यह न कहूँगा कि वह भाषा की दृष्टि से दुर्दिन माना जायगा। जो कुछ भी हो, मुझमें जो भी शक्ति थी, उसके अनुसार मैंने सेवा किया। जितनी आयु थी, उसके अनुसार मैं जीवित रह चुका। अब मैं तुम लोगों को आशीर्वाद देता हूँ, और कहता हूँ, यह बंगला भाषा-अक्षर—ज्ञान होने के बाद से जिस भाषा में तुम लोगों ने बोलना शुरू किया—यही तुम लोगों की मातृभाषा है। इसके प्रति तुमलोगों के मन में कभी अश्रद्धा न उत्पन्न होनी चाहिये। तुम लोग इसे और आगे बढ़ा सको, यही मेरी कामना है। बहुत लोगों की चेष्टा से कोई चीज आगे बढ़ती है और उसके भीतर कोई कोई ही ऊँचाई पर उठ जाता है। बहुत से लोगों ने साहित्य के प्रति प्रीति रक्खी है, उसकी साधना की है, और साधना करके उनमें से बहुत लोग अब जमीन के नीचे दब गये हैं। उनके नाम तक लोग भूल गये हैं किन्तु विस्तृत क्षेत्रों के ऊपर रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा सम्भव हो गयी है, यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। सभी कार्य के कारण होते हैं। तुम लोगों में [illegible] विश्वास है कि मैं कुछ कर सकूँगा, मेरे द्वारा कुछ [illegible] उनको [illegible] न होनी चाहिये। उन्हें प्राणों की [illegible] मातृभाषा की [illegible] की चेष्टा करते रहना चाहिये। [illegible] कोई भी मनुष्य महान् नहीं हो सकता। अँग्रेजी,

फ्रान्सीसी भाषा में कुछ भी सोचा नहीं जा सकता, अँग्रेजी में लिख सकते हो किन्तु जब तक मातृ-भाषा को समुन्नत न बनाओगे, तब तक तुम चिरकाल तक निन्दित ही रहोगे।

मैं वक्ता नहीं हूँ, मैं बोल नहीं सकता, भाषा का कोई बहुत विशेष बोध भी मुझे नहीं है। जो कुछ मेरे विचार में आया, बता गया। कालेज के अधिकारी, प्रिन्सिपल महोदय और जो भी लोग यहाँ उपस्थित हैं, एवं मेरे भाई साहब जलधर भैया—यद्यपि वे अतिथि हैं, तो भी मैं कहूँगा—इस उम्र में मेरे कारण यहाँ हाजिर होकर पूरे समय तक बैठे रहना ही उनके लिये बहुत है और इष्ट-मित्र जितने भी साहित्यिक यहाँ आये हैं, उन सभी उपस्थित सज्जनों के प्रति मैं अपना हार्दिक प्रेम व्यक्त करता हूँ। कालेज के छात्र-छात्राओं में से सभी को अपना स्नेह, अपनी श्रद्धा व्यक्त करता हूँ। पुनः ३१ भादों कभी आया तब तो भेंट होगी ही, नहीं तो तुम लोगों के यहाँ से बिदा हो ही रहा हूँ।

---

६२ वें जन्मदिवस पर भाषण

बेतार-प्रतिष्ठान के स्नेही मित्रों के आमन्त्रण से प्रति वर्ष मैं इस प्रतिष्ठान में आ जाता हूँ। मेरी जन्मतिथि के उपलक्ष में मित्रगण यह आयोजन करते हैं। इसीलिए इस बार भी ६२ वें वर्ष में पदार्पण करके अपनी जन्मतिथि के उपलक्ष में सब लोगों से आशीर्वाद की याचना कर, अपने गुरुदेव विश्वकवि रवीन्द्र को, जो आज रोग शय्या पर पड़े हुए हैं—मैं प्रणाम करता हूँ। इस जगत् में साहित्य-साधना करते हुये उनका आशीर्वाद, केवल मेरे लिए ही नहीं, प्रत्येक साहित्यिक को परम सम्पदा

है। वही आशीर्वाद मैं आज इस अवसर पर, यद्यपि वे सुन नहीं सकते, उनसे माँग लेता हूँ।

यहाँ जो सब मित्रगण आये हुए हैं, केवल साहित्य के लिए नहीं, परस्पर के अन्यान्य आदान-प्रदानों के माध्यम से वे मुझे वास्तव में प्यार करते हैं, मैं उनके प्रति स्नेह रखता हूँ, वे आज मुझे आशीर्वाद देने के लिए समवेत हुए हैं।

आप लोगों ने सुन लिया कि, साहित्य के भीतर से कुछ खोज कर यदि मैं बंग देश को दे सका हूँ, तो उसके लिए और मेरे प्रति प्रेम भाव रहने के कारण सभी लोग मेरे दीर्घ-जीवन की कामना करते हैं। आज ६२ वर्ष के आरम्भ में मैं यही सोचता हूँ कि, यह दीर्घ-जीवन सच-मुच ही मनुष्य के लिये काम्य है या नहीं। जो लोग आज मेरे दीर्घजीवन की कामना कर रहे हैं, उनमें से केवल एक ही साहित्यिक को यह कहते मैंने सुना है, और वह हैं हेमेन्द्र राय—जिन्होंने केवल मेरे दीर्घजीवन की कामना नहीं बल्कि मेरे साहित्यिक दीर्घजीवन की कामना की है। इस बात से मुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ है। हां, यदि वास्तविक साहित्यिक की भाँति मैं बंगदेश को कुछ दे सका, यदि भगवान् ने मुझमें वह शक्ति रहने दिया, और उसके साथ ही यदि दीर्घजीवन भी दे सकें, तो मुझे सेवा करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसा यदि न हो सका, यदि व्याधिग्रस्त होकर पङ्गु दशा में रहना पड़ा और हम पड़े ही रहने को बाध्य हो गये, तो उस हालत में वह जीवन किसी को भी काम्य नहीं, विशेष रूप से साहित्यिक को तो नहीं ही है और फिर उसकी तो बात ही दूसरी हो जाती है।

आप लोगों ने सुना था कि कुछ दिन पहले मैं कठिन रोग से ग्रस्त हो गया था। मेरी अब वह उमर भी नहीं रही। मेरा स्वास्थ्य हमेशा के लिए गिर गया है, और मैं यह आशा नहीं कर सकता कि प्रति वर्ष, इन सब बेतार के तार वाले प्रतिष्ठानों के मित्रों के आमन्त्रण पाकर मैं उनके

बीच उपस्थित हो सकूँगा। अपनी साहित्य-साधना की बात अपने मुख से कुछ कही नहीं जा सकती। केवल इङ्गित से मैं इतना ही कह सकता हूँ कि, अनेक दुःखों के भीतर मैं इस साधना में धीरे-धीरे अग्रसर हो चुका हूँ। किसी दिन भी मैंने यह विचार नहीं किया था कि, मैं भी साहित्यिक बनूँगा, या मेरी भी कोई पुस्तक किसी दिन प्रकाशित होगी। यहाँ तक कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, वह भी संकोच से, दुविधा से, दूसरों के नाम से, उसका भी कोई मूल्य है या नहीं, मैं यह सोच नहीं सकता था। उसके बाद तो दीर्घकाल तक शायद पन्द्रह-सोलह वर्ष तक, साहित्य चर्चा के पास भी मैं नहीं गया। भूल से भी मन में यह विचार नहीं आता था कि मैं भी किसी दिन लिखता रहा। उसके बाद फिर विविध अवस्थाओं के बीच से मेरा यह जीवन चलता रहा। यही शायद वास्तविक जीवन है। अन्ततः जान पड़ता है कि, भगवान् ने यही जीवन मेरे लिए निर्दिष्ट कर रक्खा था। इसीलिए, इच्छा न रहने पर भी घूम फिरकर मुझे अपने जीवन के ये इकसठ वर्ष बिताने पड़े। मैं आप लोगों के बीच अधिक दिन रहूँ या न रहूँ लेकिन मेरी यह बात कभी-कभी आप लोगों को याद पड़ती ही रहेगी कि, वे यह बात कह गये हैं कि, अनेक दुःखों के भीतर से उनकी यह साहित्य-साधना धीरे-धीरे बाधाओं को ठेल कर आगे बढ़ती रही। आज यहाँ जो लोग मेरी बात सुन रहे हैं, उनमें से यदि कोई साहित्य-चर्चा करें, कम से कम यदि वे साहित्य को धारण करें, यदि उनके मन की वासना यही हो, और यदि उनका संकल्प भी स्थायी हो, तो उनको यह बात सदैव याद रखनी पड़ेगी कि, साहित्य अकस्मात् कुछ तैयार हो जाने वाली चीज नहीं है।

इस अनुष्ठान में मुझे जो लोग बुला लाये हैं, उनको प्रति वर्ष जिस तरह मैं कृतज्ञता दिखाता रहा, श्रद्धा दिखाता रहा, इस बार भी उनके प्रति वैसा ही अपना प्रेम-भाव प्रकट करता हूँ। जो सब मित्र, आत्मीय आज सभा में आ गये हैं, जरूरत न रहने पर भी उनके प्रति मैं फिर एक

बार अपनी श्रद्धा, अपना स्नेह प्रकट करता हूँ और यही चाहता हूँ कि, इसमें कोई भी किसी भी दिन हमसे अलग न हों। मुझे जो यह चीज उनसे मिल गयी, इसी को वे जब तक, मैं जीवित रहूँ, मुझे देते रहें—इसी प्रकार आकर मुझे उत्साह दें और धन्य कर जावें।

जो लोग मेरी बात सुन चुके हैं, उनसे भी मेरी यही प्रार्थना है कि, हेमचन्द्र राय ने जो बात मुझसे कही है, वही सफलीभूत हो—मुझे अपना साहित्यिक दीर्घजीवन मिले, ऐसा न होने से केवल दीर्घजीवन विड-म्बना की तरह मुझे न मिले।

बाल्यकाल की स्मृति

'पुरानी बातों की आलोचना' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। उसमें मेरे सम्बन्ध में कुछ आलोचना है, किन्तु इसीलिए उस आलोचना में मैं भी शामिल हो जाऊँ, ऐसा स्वभाव मेरा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि मैं बहुत ही आलसी आदमी हूँ—सहज ही में लिखने-पढ़ने के काम में मेरा मन नहीं लगता। दूसरा कारण यह है कि अपने विगत जीवन के इतिहास के सम्बन्ध में मैं अत्यन्त उदासीन रहता हूँ। मैं जानता हूँ कि इस विषय को लेकर बहुत तरह की कल्पनाएँ [illegible] सर्वसाधारण में प्रचारित हो चुकी हैं, [illegible] निराकरण नहीं कर [illegible] होकर मेरे पास आते हैं और कहते हैं—आप क्यों नहीं इन मिथ्या बातों का प्रति-कार करते? मैं कहता हूँ कि यदि ये सब बातें मिथ्या हैं, तो उनका

प्रचार मैंने नहीं किया है। इसलिए प्रतिकार करने का दायित्व भी मेरे ऊपर नहीं है। यह सब भी उन्हीं लोगों पर है। अतः जाओ, उनसे ही कहो, वे ही प्रतिकार करेंगे। तब वे लोग क्रोधित होकर उत्तर देते हैं—लोग आपके सम्बन्ध में अद्भुत धारणा रखते हैं। आखिर इसके लिए क्या किया जाय ? मैं कहता हूँ—यह दायित्व भी उन्हीं का है, किन्तु इन सत्तावन वर्षों में यदि कोई हानि न हुई हो, तो और कुछ ही वर्षों तक धीरज रक्खो, अपने ही आप इस तरह की सारी बातें खतम हो जायँगी। चिन्ता की कोई बात नहीं।

आज इस निबन्ध को पढ़ते-पढ़ते मैं सोच रहा था कि हमारे बचपन में उस अत्यन्त छोटी सी तुच्छ साहित्य सभा में...नेपथ्य में शामिल होने का—'नेपथ्य' शब्द प्रयुक्त करना कोई एक सज्जन भूल गये हैं इस कारण...कैसी व्याकुलता है! एक बार भी मैंने विचार नहीं किया कि इसका भी मूल्य कितना है और इस बृहत् संसार में कौन ऐसा है जो उन बातों को याद रक्खेगा। अवश्य ही इस प्रश्न का यही उत्तर भी है। वह जो कुछ भी हो, अपनी बात ही कह दूँ। कहने का जरा सा कारण है—किन्तु वह मेरे लिए नहीं है—इस निबन्ध के अन्तिम अंश तक पढ़ने से वह समझ में आ जायगा।

श्रीयुत् सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय मेरे आत्मीय हैं और बाल्यकाल के मित्र हैं। 'कल्लोल' में और 'स्याही-कलम' में उन्होंने मेरे बाल्य जीवन के प्रसङ्ग में क्या-क्या लिखा है, उसे मैंने नहीं पढ़ा है—कौन सी बात उन्होंने कही थी, उसे भी मैंने नहीं देखा है। मेरा ऐसा स्वभाव ही है। किन्तु मैं जानता हूँ, मेरे ऊपर सुरेन का कितना असीम स्नेह है, इस कारण उनके लेख में अतिशयोक्ति अवश्य ही है, यह तो मैं न पढ़ने पर भी शपथ पूर्वक कह सकता हूँ। किन्तु लेख को बिना पढ़े उसके सम्बन्ध में शपथ लेना एक बात है, और बिना पढ़े उसका प्रतिवाद करना दूसरी

बात। इस कारण यह किसी के लेख का प्रतिवाद नहीं है। केवल जितनी बातें मुझे याद आती जा रही हैं, उन्हें ही कह देना मात्र है।

भागलपुर में जब हमारी साहित्य सभा की स्थापना हुई थी, तब हमारे साथ श्रीमान विभूति भूषण भट्ट या उनके बड़े भाइयों का कुछ भी परिचय नहीं था। शायद एक कारण यह है कि, वे लोग विदेशी थे और बड़े आदमी भी थे।...स्वर्गीय नफर भट्ट वहाँ सब-जज के पद पर थे। उसके बाद किस तरह उस परिवार के साथ धीरे-धीरे हमारी जान-पहचान और घनिष्ठता होती गयी, वे सब बातें मुझे अच्छी तरह याद नहीं हैं। शायद इस कारण कि, धनवान् होने पर भी, इन लोगों में धन की उग्रता या अभिमान बिलकुल ही नहीं था। और मैं शायद इन लोगों की तरफ यथेष्ट रूप से इसी कारण आकर्षित भी हो गया था कि, इन लोगों के घर में शतरञ्ज खेलने का सुन्दर आयोजन रहता था। शतरञ्ज खेलने का सुन्दर आयोजन का अर्थ यह समझना चाहिये कि—खेल, चाय, पान, और बारम्बार तमाखू आदि का वहाँ विधिवत आयोजन रहता था।

सम्भवतः उसी समय....श्रीमान विभूति भूषण हमारी साहित्य-सभा के सदस्य बने। मैं सभापति था, किन्तु साहित्य-सभा में....गुरू-गिरी करने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला और ऐसी जरूरत भी कभी नहीं पड़ी। सप्ताह में केवल एक दिन सभा की बैठक होती थी, और अभिभावक गुरुजनों से छिपाकर किसी निर्जन मैदान में ही वह बैठकी जमती थी। यह जान लेना आवश्यक है कि उन दिनों इस देश में साहित्य-चर्चा एक गुरुतर अपराध ही माना जाता था। उस सभा में कभी-कभी कविता पाठ भी होता था। कविता सुनाने में गिरीन बड़ा अच्छा था; इस कारण यह भार उसके ही ऊपर था, मेरे ऊपर नहीं। कविता के गुण-दोष का विचार होता था और उपयुक्त समझ लेने पर साहित्य-सभा की मासिक पत्रिका 'छाया' में वह कविता प्रकाशित हो जाती थी। गिरीन

सभा के मन्त्री थे और 'छाया' के सम्पादक भी और 'अँगुली-यन्त्र' में अधिकांश लेखों के मुद्रक भी। इस सम्बन्ध में मुझे साधारण तौर से इतनी ही बातें याद पड़ती हैं।

साहित्य-सभा के सदस्यों में सबसे मेधावी विभूति थे। वे जिस तरह यथेष्ट रूपेण शिक्षित थे, उसी तरह सज्जन और मित्रवत्सल भी थे। समझदार समालोचक भी थे।

किन्तु नहीं कहकर किसी बात को जान लेना और नहीं कहकर प्रकट रूप से किसी बात का प्रतिवाद करना भी ठीक एक ही बात नहीं है। तब संकोच से बाधा पहुँचती है। अपने से बड़ी उम्र वाले किसी व्यक्ति को भी अकारण ही दुःखित करने के क्षोभ से मन में अशान्ति उत्पन्न होती है। किन्तु जब सत्य की प्रतिष्ठा करनी ही पड़ती है, तब अप्रिय कर्तव्य की यह पुनः पुनः द्विधा, अपने वक्तव्य को पग-पग पर अस्वच्छ बना देती है। पुरानी बातों की आलोचना में। विपत्ति इसी जगह उपस्थित होती है, फिर भी इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इतने अधिक वर्षों के बाद मैं रहता तो कहता—संसार में कितनी ही भूलें तो विद्यमान हैं, एक और भी रह जाय तो क्या हानि हो सकती है। इसमें कौन सा नुकसान है। किन्तु हानि समझने का मेरा हिसाब और दूसरे का हिसाब भी एक-सा नहीं है।

...यहाँ एक गल्प याद पड़ गया। वह इस प्रकार है—

"कई वर्ष पूर्व की बात है। एक बार बम्बई में 'शरत्-चन्द्र' सम्बन्धी एक सभा में एक वक्ता ने शायद सुरेन्द्रनाथ के उस लेख को पढ़कर ही अपने भाषण में कहा था—टीला कोठी के मैदान में (भागलपुर) यह सभा होती थी और सुरेन्द्र, गिरीन्द्र...विभूति भूषण उनके पैरों के नीचे बैठकर साहित्य साधना करते थे। इस सभा के एक श्रोता ने (जिनका नाम विजय कुमार बन्द्योपाध्याय था, शारीरिक बल के कारण आदमपुर क्लब में उनको सभी जानते थे, वे गृह-शिक्षक रूप में भागलपुर में बहुत

दिनों से रहते आये थे...वे सब कुछ ही जानते थे।)—उत्तेजित होकर हमें यह समाचार सुनाया और प्रतिवाद करने को कहा। विभूति बाबू ने उनको बड़े ही कष्ट से शान्त करके समझाया कि...दूसरों के मुँह से सुनी हुई बात का लेख के द्वारा प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। अपने मुँह से जो कुछ कहा जाय, उतना ही ठीक है।"

विभूति बाबू अपने भूतपूर्व गृह-शिक्षक विनय कुमार को यदि सच-मुच ही शान्त कर सके हों, तो उन्होंने एक आश्चर्यजनक काम कर डाला, इसे मैं जरूर ही मानूँगा। क्योंकि चौबीस घण्टे में एक घण्टे के लिए भी उनको शान्त करना कोई सहज काम नहीं था। 'पैरों के नीचे बैठकर साहित्य-साधना करते थे' यह ग्लानि-जनक उक्ति सुनकर भूतपूर्व गृह-शिक्षक विनय कुमार ने स्वयं उत्तेजित होकर प्रतिवाद किया है और दूसरों को उत्तेजित होने को उकसा दिया है। किन्तु यह घटना मेरे लिए एकदम नयी है। सम्वत् १३३२ में मैं हवड़े में ही था, किन्तु अपने सम्बन्ध में ऐसी एक सभा होने की बात मुझे एकदम मालूम नहीं है। यदि सचमुच ही ऐसी सभा हुई होती, और मैं स्वयं उसमें उपस्थित रहता, तो ऐसी एक बात मेरे लिए जितना ही विचारणीय प्रश्न क्यों न हो, असत्य कहकर मैं अवश्य ही उसका प्रतिवाद करता और विनय को भी उत्तेजित हो उठने की जरूरत न पड़ती। यह मैं निःसन्देह कह सकता हूँ।

...स्वभावतः ही मनुष्य बहुत अंशों में कल्पना-प्रिय होता है, यह बात ठीक है। कल्पना की भी उपयोगिता है यह बात भी सच है, किन्तु ठीक स्थान में। भूतपूर्व गृह-शिक्षक विनयकुमार Statesman अखबार के Reporter थे। घटनास्थल पर उपस्थित न रहकर, अपनी तीव्र कल्पना की सहायता से Report प्रस्तुत करने के कारण उनकी नौकरी चली गयी थी, और अखबार के सम्पादक को भी लांछित होना

पड़ा था। आज विनय परलोक में हैं। मृत व्यक्ति को लेकर ये सब बातें लिखने में मुझे क्लेश होता है।...

किन्तु यह बाह्य विषय है। असल में कुछ अति कौतूहल-प्रिय लोगों के अशिष्ट और अक्षम्य पूछ-ताछ ने परेशानी में डाल दिया है। उन लोगों ने पूछा है, मेरे प्रति, साहित्य के विषय में कौन कितना ऋणी है। मुझसे भी लोगों ने ऐसा प्रश्न न किया हो, ऐसी भी बात नहीं है। किन्तु जिसने भी पूछा, उसको ही मैंने सदैव निष्कपट ढङ्ग से यही बात कही है कि....कोई भी मेरे प्रति लेशमात्र भी ऋणी नहीं है। एक स्थान में, एक ही समय में, बाल्यावस्था में कुछ लोग साहित्य-चर्चा करने लगते हैं, तो सभी एक दूसरे को उत्साह देते रहते हैं। कोई बात अच्छी लगने पर अच्छी कहकर मित्रगण एक दूसरे को अभिनन्दित करते ही हैं। उसे ऋण कहकर प्रचार करना ठीक नहीं। ऐसी हालत में मनुष्य के ऋण की कहीं सीमा ही नहीं हो सकती। जैसे सुरे गिरीन, उपेन थे, वैसे ही विभूति...आदि भी। लेख पढ़ लेने पर यदि अच्छा लगा, तो मैंने अच्छा ही कहा,—कहीं विशेष अच्छा न लगा तो उसे फाड़कर फिर लिखने का अनुरोध किया।...किसी दिन मैंने संशोधन नहीं किया।... इतने दिनों के बाद इन बातों को व्यक्त करने का मेरा उद्देश्य केवल यही है कि इस सम्बन्ध में मेरा जो वक्तव्य है, वह लिपिबद्ध रह सके।...

अब मैं अपने सम्बन्ध में दो-चार बातें कहकर इस आलोचना को समाप्त कर देना चाहता हूँ। बाल्यकाल की लिखी मेरी कई पुस्तकें विभिन्न कारणों से खो गई हैं। उन सबका नाम मुझे याद नहीं है, केवल दो पुस्तकों के नष्ट हो जाने का विवरण मैं जानता हूँ। एक है "अभिमान" बहुत मोटी कापी में स्पष्ट अक्षरों में लिखी हुई थी। अनेक इष्ट मित्रों के हाथ घूमती हुई अन्त में वह बाल्यकाल के सहपाठी केदार सिंह के हाथ में जा पड़ी। केदार लगातार बहुत दिनों तक बहुत-सी बातें कहते रहे।

किन्तु वह पुस्तक फिर मुझे वापस नहीं मिली। अब वे एक घोरतर तान्त्रिक साधु बाबा हैं। पुस्तक को उन्होंने क्या किया, वे ही जानते होंगे। किन्तु माँगने का साहस नहीं होता। सिन्दूर-मण्डित उनके बड़े त्रिशूल से मैं बहुत ही डरता हूँ। अब वे मेरी पहुँच के बाहर हैं। महापुरुष घोरतर तान्त्रिक बाबा हैं। दूसरी पुस्तक है 'शुभदा'। प्रथम युग की लिखी वही मेरी अन्तिम पुस्तक थी। अर्थात् 'बड़दीदी,' 'चन्द्रनाथ', 'देवदास' आदि के बाद लिखी गयी थी।

छात्रजीवन *

तुम लोगों के इस विद्या-मन्दिर में आकर मुझे अपने विद्यार्थी जीवन की ही बातें बारम्बार याद पड़ रही हैं। मैंने भी किसी दिन तुम्हीं लोगों की तरह ऊँची शिक्षा की आशा लेकर, इसी प्रकार छात्रजीवन प्रारम्भ किया था। उस दिन मन ही मन भावी काल का स्मरण कर आशा के कितने ही मुकुलों की रचना मैंने की थी। किन्तु स्वप्न जितना बड़ा था, पारिपार्श्विक अवस्था की अनुकूलता में रहकर भी मैं उतना ही अधिक वञ्चित हुआ। मैं यह सोच ही न सका था, कि विधाता ने ऐसी वञ्चना मेरे लिए निर्धारित कर रक्खी थी। विद्यामन्दिर को दूर से ही प्रणाम कर एक दिन मैं घुमक्कड़ बन गया था। इस प्रकार ही आज मैं अपने जीवन की अपराह्ण बेला में आ पहुँचा हूँ। इस जीवन में मैंने एक सत्य

* [illegible] कालेज की छात्र-सभा में शरत् बाबू ने अपने छात्र-जीवन पर प्रकाश डाला था। उनका वह भाषण दिया जा रहा है :

की उपलब्धि कर ली है। वह सत्य यही है कि सत्य से च्युत होकर, धोखा देकर मनुष्यों के नेत्रों में चकाचौंध डाल देने की चेष्टा में रहने से, वह धोखा किसी दिन वापस आकर अपने को ही बिंध देता है। इसी कारण, तुम लोगों से मैं यही कहना चाहता हूँ, कि अपना भविष्य-जीवन तुम लोगों के सामने है, तुम लोगों के द्वारा ही देश एक दिन समुन्नत हो सकेगा। इसलिए तुम लोग विशुद्ध बनो। जिस बात को आँखों से देखकर जाँच न कर सको, उसे कभी अपने जीवन में सत्य कहकर प्रचार मत करना। ऐसा करने से धोखा खाना पड़ता है। तुम लोग मेरा स्नेह प्यार ग्रहण करो।

—:०:—

जीवन दर्शन*

पहले ही मैंने उनके स्वास्थ्य का प्रसङ्ग उठाया। इस बात के उत्तर में उन्होंने अतिशय क्लान्त और मधुर, साथ ही दृढ़ कण्ठ से कहा—"मोहित, मैं मृत्यु कामना करता हूँ, अब जीवित रहने की इच्छा मेरे मन में रत्तीमात्र भी नहीं है।" यह बात मुझे रुचिकर नहीं मालूम हुई। मैंने इसका प्रतिवाद किया—कहा—अपनी मृत्यु कामना करना और

* शरत् बाबू अन्त में जीवन के प्रति किस हद तक उदासीन हो गये थे, यह उनके इस वार्तालाप से प्रकट है।

ढाका विश्वविद्यालय के डी० लिट० उपाधिदान के उपलक्ष में ढाका रहते समय, कवि और समालोचक मोहित लाल मजूमदार से यह बातचीत हुई थी।

आत्म-हत्या करना दोनों एक ही समान है—आप जैसे मनुष्य को मुख से ऐसी बात निकालना उचित नहीं है। सुनकर वे हँसने लगे। बोले—"नहीं, तुम जिस उम्र में हो, उसमें इस कथन का मर्म न समझ सकोगे। मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब सुख-दुःख सभी चेतनाएँ ही मन से खिसक जाती हैं ? तब जीवन को अर्धतिल भी सहन करना कठिन हो जाता है। वही दशा मेरी हुई है। मैं दुःख या सुख के विषय में कुछ भी नहीं सोच रहा हूँ ?—मैं जीवन से मुक्ति चाहता हूँ। तुम विश्वास नहीं करते ? मैंने दूसरों को भी ऐसी अवस्था में देखा है। बचपन में मैं अपनी एक बहन के घर रहता था। उनकी वृद्ध अजिया सास उस समय जीवित थीं। वे बहुत ही बूढ़ी हो गयी थीं। अन्त में कुछ दिनों से रोगाक्रान्त हो कष्ट भोग रही थीं। ऐसी अवस्था में रोग-मुक्ति के लिए अथवा शीघ्र मृत्यु की आशा से हिन्दू जैसा करते हैं, वही करने का परामर्श गाँव के लोगों ने उनको दिया। उन लोगों ने कहा—"प्रायश्चित करा दो, इस हालत में रहने देना ठीक नहीं है।" प्रायश्चित करने में बूढ़ा को क्या ही आनन्द मिलने लगा। प्रायश्चित के बाद कविराज ने एक दिन उनकी नाड़ी देखकर उनको आश्वासन देते हुए कहा—"आपको अब ज्वर नहीं है, इस बार आपकी मृत्यु नहीं हो सकती।"

यह सुनकर बूढ़ा का चेहरा फीका पड़ गया। उन्होंने एक भी बात नहीं कही। उस दिन रात को एक आवाज सुनकर मेरी नींद टूट गयी—मैं बाहरी कमरे में सोया करता था, भीतर के आँगन की तरफ एक तरह की आवाज बार-बार हो रही थी। मैं दरवाजा खोलकर आँगन में चला गया, और उस आवाज के समीप पहुँचते ही मुझे दिखाई पड़ा—आँगन के बीच जो ठाकुर जी की कोठरी थी, उसके ही द्वार की वेदी पर वह बूढ़ा पागल की तरह अपना माथा पटक रही है और कह रही है—"तुम मुझे ले न चलोगे। इतना पुकार रही हूँ, तो भी तुमको दया नहीं

आती।" वह स्थान रक्त से प्लावित हो चला था। मैं समझ गया कि रात को सब लोगों के सो जाने पर, चलने की शक्ति से रहित वह वृद्धा अपने शरीर को इतनी दूर तक खींच लायी है—बड़ी आशा से, हताश होकर, अपने शरीर की बची-खुची शक्ति को लगाकर उसने यह काम किया है।

'मैंने सबको बुलाकर उनको धो-पोंछकर, परस्पर की सहायता से उनको कमरे में लाकर बिछौने पर सुला दिया। इसके बाद फिर वे अधिक दिन जीवित नहीं रहीं। उस दिन जो बात मेरी समझ में नहीं आयी थी, उसे आज मैं समझ रहा हूँ। मेरी भी वही दशा हो गयी है।"—'देखो, लोग कहा करते हैं कि मैं बङ्किम का अनुरागी नहीं हूँ—मानो मैं बंकिम के प्रति व्यक्तिगत विद्वेष की भावना रखता हूँ।"—"देखो, जीवन के सत्य को, जितना ही बड़ा कवि क्यों न हो, कभी लांघ नहीं सकता। नारी के सम्बन्ध में जो धारणा हमारे समाज में संस्कार की तरह बद्धमूल हो चुकी है, वह किस हद तक मिथ्या है, इसे मैं जानता हूँ, इसीलिए किसी कवि की रचना में, भले ही खूब बड़े कवि के रूप में वे सम्मान पा चुके हों, दायित्वहीन कल्पना का अविचार मैं सह नहीं सकता। धर्म और नीतिशास्त्र की मर्यादा-रक्षा के लिए मनुष्य के प्राणों को लघुरूप में देखना होगा—नारी के जीवन की जो सबसे बड़ी ट्रेजेडी है, उसे ही एक कुत्सित कलंक के रूप में प्रकट कर देना होगा—इसमें कवि-प्राण का महत्व या कवि-कल्पना का गौरव कहाँ है? हमारे समाज में जो घृणित अविचार सर्वदा पनपते रहते हैं, यदि उनकी ही पुनरावृत्ति साहित्य में मुझे दिखाई पड़े, तब तो मनुष्य रूप में मनुष्य का मूल्य स्वीकार करने के सम्बन्ध में हताश हो जाना पड़ता है। बंकिमचन्द्र की रचना में, रोहिणी की दुर्गति के विषय में, जब मैं सोचने लगता हूँ, तब मुझे निरू दीदी की बात याद पड़ जाती है। वह कथा मैं तुमको सुना रहा हूँ। निरू दीदी ब्राह्मण की लड़की और एक बाल-विधवा थीं, ३२

वर्ष की अवस्था तक उनके चरित्र में किसी तरह के कलंक का स्पर्श नहीं हुआ था। गाँव में निरू जैसी सुशीला, धर्मानुरागिणी, श्रमशीला और कर्मिष्ठा कोई भी महिला नहीं थीं। उस गाँव में सम्भवतः ऐसा एक भी परिवार नहीं था, जिसे उनके द्वारा रोग की दशा में सेवा, दुःख में सान्त्वना, अभाव में सहायता, यहाँ तक कि असमय में दासी की तरह परिचर्या नहीं मिली थी। उस समय मेरी अवस्था बहुत ही कम थी, तो भी उनको देखकर मेरा बहुत बड़ा उपकार हुआ था—मैं एक बड़े हृदय का परिचय पा गया था। इतने समय के बाद, बत्तीस वर्ष की अवस्था में निरू दीदी का पदस्खलन हो गया। गाँव के स्टेशन के एक विदेशी स्टेशन मास्टर ने उस आजन्म ब्रह्मचारिणी के कुमारी हृदय को किस मन्त्र से बिंध दिया था, इसे वही पापी जानता होगा। वह अन्त में उनको कलङ्क की सुस्पष्ट अवस्था में छोड़कर भाग गया। ऐसी अवस्था में जो एकमात्र उपाय रहता है, वही निरूदीदी को करना पड़ा। उसके बाद बहुत ही सुन्दर स्वास्थ्य एकदम ही नष्ट हो गया। अन्त में वे मरणासन्न होकर शय्या पर गिर पड़ीं। उनके मुँह में एक बूँद जल डालने की बात तो दूर रही, कोई उनके दरवाजे के पास भी नहीं जाता था। जिसने सभी की सेवा की थी, जिनके यत्न से, जिनकी शुश्रूषा से कितने ही लोग मृत्यु के मुँह से बच गये थे, वह आज एक पालतू पशु के अधिकार से भी वञ्चित हो गयी थी। हमारे घर में भी कड़ा हुकुम था। उनके पास किसी के जाने का उपाय नहीं था। मैं छिपकर जाया करता था—उनके सिर और पैरों पर जरा हाथ सहला देता था, दो-चार फल जुटाकर उनको खिला देता था। मैं स्वयं कुछ अस्वस्थ हो जाता, तो रोगी के पथ्यरूप में जो कुछ मुझे मिलता था, उसमें से ही उनके लिए थोड़ा सा ले जाता था—यही थी मेरी गुप्तसाधना सेवा। किन्तु उस अवस्था में भी मनुष्यों के हाथ से यह पैशाचिक आघात पाने पर भी, उनके मुख से मैंने कभी कोई अभियोग या निन्दा नहीं सुनी। वे स्वयं ही इतनी लज्जित और

संकुचित रहती थीं कि जिसकी कोई हद ही नहीं थी। मानो उन्होंने जो अपराध कर डाला था, उसका कोई भी दण्ड इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। उस दिन यही देखकर मैं अवाक् हो गया था। बाद को मैंने सुना कि, अपने अपराध की सजा उन्होंने आप ही अपने को दी है। दूसरे मानो उपलक्ष्य मात्र हैं। उन्होंने अपने को क्षमा प्रदान नहीं किया। इससे उनकी सजा का अन्त नहीं हुआ—वे जब मर गयीं, तब किसी ने उनके मृत शरीर को नहीं छुआ। डोम के द्वारा वह नदी के किनारे एक स्थान में जहाँ जङ्गल था, फेंक दिया गया। सियार, कुत्ते नोच-नोच कर उसे खा गये।"...बाद को उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"मनुष्य के भीतर जो देवता रहते हैं, हम इसी तरह उनका अपमान करते रहते हैं। रोहिणी का कलंक और उसको मिला हुआ दण्ड भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। एक ऐसे नारी-चरित्र की कैसी दुर्गति बङ्किमचन्द्र ने कर डाली है।

बचपन की बातें *

प्रति वर्ष भादों की ३१ वीं तारीख को मुझे स्वदेशवासियों का निमंत्रण, आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए मिला करता है। मुझे यहाँ आना पड़ता है और मैं श्रद्धानत सिर से आ खड़ा होता हूँ। अंजुरी भर आशीर्वाद लेकर घर लौट जाता हूँ। वही सारे वर्ष का मेरा राह-

---

*अपने ५७ वें जन्म दिवस पर दिये गये अभिनन्दन के उत्तर में शरत् बाबू ने जो भाषण किया था—उसमें उन्होंने अपने बाल्य जीवन की चर्चा की थी।

खर्च बना रहता है। फिर ३१ वीं भादों लौट आती है। फिर मेरी बुलाहट होती है। फिर आकर मैं आपलोगों के सामने खड़ा हो जाता हूँ। इसी रीति से जीवन की अपराह्न बेला निकट पहुँच गयी है।

भादों की यह ३१ वीं तारीख प्रति वर्ष आती रहेगी, किन्तु एक दिन ऐसा भी आयेगा जब मैं यहाँ फिर न आऊँगा। उस दिन शायद किसी को यही बात व्यथा के साथ याद पड़ेगी, और बाद में किसी को इसकी बिलकुल ही याद न पड़ेगी। ऐसा ही होता चला आया है। इसी तरह यह जगत् चलता ही रहता है।

मेरी प्रार्थना केवल यही है, कि उस दिन भी ऐसा ही स्नेह का आयोजन रह सके, आज जो लोग युवक हैं, जो लोग वाणी के मन्दिर में नवीन सेवक हैं, वे इसी तरह सभा-स्थल में खड़े रहकर अपने दाहिने हाथ के ऐसे ही अकुंठित दान से हृदय को भरकर अपने घरों को लौट जा सकें।

मैंने जो अति तुच्छ साहित्य सेवा की है, उसका पुरस्कार मुझे अपने देशवासियों से बहुत कुछ मिल चुका—मेरा जो पावना है, उससे कहीं अधिक।

आज मुझे सबसे अधिक यही बात याद पड़ रही है, कि कितनी बातों पर मेरा दावा है, और इसका ऋण भी कितना है। क्या यह ऋण मेरे पूर्ववर्ती पूजनीय साहित्याचार्यों के प्रति है ?

इस संसार में जो लोग केवल देते ही रहे हैं, परन्तु जिनको कुछ भी नहीं मिला, जो लोग वंचित हैं, जो दुर्बल हैं, जो उत्पीड़ित हैं, मनुष्य होने पर भी मनुष्यों ने जिनके नेत्रों के आँसू का कोई हिसाब नहीं लिया, अपने निरुपाय दुःखमय जीवन में जिन्होंने किसी दिन सोचने पर भी कुछ समझ में नहीं आया कि, सब कुछ रहने पर भी चीज पर उनका अधिकार नहीं है, उनके प्रति भी क्या मैं कम ऋणी हूँ ? इनकी ही वेदना

ने मेरा मुँह खोल दिया, इन्होंने ही मुझे मनुष्यों के पास मनुष्य की दुःख-कहानी व्यक्त करने को भेज दिया। उनके प्रति मैंने कितने ही बिना विचार के दुस्सह सुविचार भी होते देखा। इसी कारण मेरा कारबार केवल इन्हीं लोगों को लेकर है। संसार में सौन्दर्य से, सम्पदा से, परिपूर्ण वसन्त आता है, यह मैं जानता हूँ। वह अपने साथ कोयलों की मीठी-मीठी कूक लाता है, प्रस्फुटित मल्लिका-मालती, जूही, बेला आदि को लाता है, गन्धव्याकुल दक्षिणी पवन को लाता है किन्तु जिस घेरे से मेरी दृष्टि आबद्ध हो गयी, उसके भीतर उन्होंने दर्शन नहीं दिये। उनके साथ घनिष्ठ परिचय मिलने का सुयोग मुझे नहीं मिला। यह दरिद्रता मेरी रचना पर दृष्टि डालने से दिखाई पड़ती है। किन्तु हृदय में जिसे पा नहीं सका, श्रुतिमधुर शब्दराशियों की माला गूँथ कर उनको पा गया हूँ, यह प्रकट करने की धृष्टता भी मैंने नहीं की है। इसी तरह और भी बहुत सी बातें हैं—इस जीवन में जिनका तत्व ढूँढ़ने पर मुझे नहीं मिला, स्पर्धायुक्त अविनय से उनकी मर्यादा को खण्डित करने का अपराध भी मैंने नहीं किया। इसीलिए साहित्य-साधना की विषयवस्तु और उसका वक्तव्य विस्तृत और व्यापक नहीं है, वह संकीर्ण है, अपरिसीमित है। तो भी, मैं केवल इतना ही दावा करता हूँ, कि असत्य से अनुरञ्जित करके मैंने उनको आज भी सत्य भ्रष्ट नहीं किया है।

मुझे अपने बाल्यकाल की बातें याद पड़ रही हैं। प्रत्येक साहित्य-साधक के हृदय में ही आस-पास, दो जनों का तो अवश्य ही निवास रहता है। उनमें एक है, लेखक, जो रचनायें करता है और दूसरा है उसका समालोचक, जो उन रचनाओं पर विचार करता है। कच्ची उम्र में लेखक का ही प्रबल पक्ष रहता है—वह दूसरों को मानना नहीं चाहता। एक पक्ष का व्यक्ति जितना ही हाथ दबा रखना चाहता है, कानों में कहता रहता है,—पागल की तरह तुम यह क्या लिखते जा रहे हो, जरा रुक जाओ, प्रबल पक्ष का व्यक्ति अपना हाथ उतने ही वेग से हटा कर

अपनी निरंकुश रचना को चलाता जाता है। कहता है—आज तो मेरा रुकने का दिन नहीं है,—आज आवेग और उच्छ्वास के गतिवेग से दौ ले जाने का दिन है। उस दिन कापी के पत्रों पर पूँजी अधिक जम जाती है, स्पर्धा आकाश-भेदी हो उठती है, उस समय नीव कच्ची रहती है, कल्पना असंयत और उद्दाम रहती है,—जोरदार गले से चिल्लाकर बोलने को ही उस दिन सुक मान लेने का भ्रम होता है। उस दिन पुस्तकों में पढ़कर जो चरित्र अच्छे जँचते हैं, उनको ही बढ़ाकर विकृत रूप में प्रकट करने को ही अपनी अनवद्य मौलिक रचना समझना होता है।

सम्भवतः साहित्य-साधना की यही है स्वाभाविक विधि। किन्तु उत्तरकाल में इसके ही लिए लज्जा रखने तक की कोई जगह नहीं मिलती, यह भी शायद इसका ऐसा ही अपरिहार्य अङ्ग है। मेरे यौवन काल की कितनी ही रचनाएँ ऐसी हैं, जिनको हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं।

किन्तु सौभाग्य का विषय है, कि अपनी भूल मुझे आप ही समझ में आ जाती है। तब मैं भयग्रस्त होकर नीरव हो जाता हूँ। उसके बाद बहुत दिनों तक समय चुपके से बीतता जाता है। वह कैसे बीत जाता है, यह विवरण, विषयान्तर है। किन्तु जब फिर आत्मीय-स्वजनों और इष्ट-मित्रों ने मुझे वाणी के मन्दिर-द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया, तब तो यौवन का अन्त हो चुका था और आँधी रुक चुकी थी। तब यह जान लेना बाकी नहीं रहा कि संसार में संघटित घटनाएँ ही केवल साहित्यिक [illegible] जाने से ही वे साहित्य के उपादान भी नहीं हैं। वे तो केवल नींव हैं, और नींव होने के ही कारण भूमि के नीचे अच्छी तरह छिपी रहती हैं,—अन्तराल में पड़ी रहती हैं।

तब मेरा [illegible] अपने [illegible] आसन पर आ बैठा था, मेरा जो

'मैं' लेखक है, उसने उसके शासन को मान लिया था। इनके विवादों का अवसान हो चुका था।

ऐसे ही समय में मैं एक मनीषी को कृतज्ञतापूर्ण चित्त से स्मरण करता हूँ—वे हैं स्वर्गीय पाँचकौड़ी वन्द्योपाध्याय। वे हमारे बाल्यकाल में स्कूल के शिक्षक थे। अकस्मात् इसी नगर के एक रास्ते के किनारे एक दिन उनसे भेंट हो गयी। मुझे अपने निकट बुलाकर उन्होंने कहा— "शरत्, तुम्हारी रचनाएँ मैंने पढ़ी नहीं हैं। किन्तु लोग कहते हैं कि वे अच्छी हुई हैं। एक समय ऐसा था जब कि मैंने तुमको पढ़ाया था। मेरा यह आदेश रहा कि जिस बात को तुम सचमुच ही नहीं जानते, उसको कभी मत लिखना। जिसकी उपलब्धि तुमको यथार्थ रूप से नहीं हुई, सत्यानुभूति के द्वारा जिसको तुमने अपनी वस्तु के रूप में प्राप्त नहीं किया उसको बढ़ा-चढ़ाकर भाषा के आडम्बर से ढँककर, पाठकों को धोखा देकर बड़ा बनने की इच्छा मत करना, क्योंकि इस धोखा-धड़ी को कोई एक दिन जरूर ही पकड़ लेगा, तब तुम्हारे लिए लज्जा की कोई सीमा ही न रहेगी। अपनी सीमा को लाँघ जाना ही अपनी मर्यादा को लाँघ जाना होता है। ऐसी भूल जो नहीं करता, उसकी और जो भी दुर्गति क्यों न हो, उसको लाँछना भोगने का दुर्भाग्य नहीं प्राप्त होता।—अर्थात् सम्भवतः उनकी इच्छा मुझे केवल यही समझा देने की थी, कि जीविका के निमित्त, यदि कभी तुमको उधार भी लेने की जरूरत पड़े तो उस हालत में कभी बाबूगिरी मत करना।

उस दिन मैंने उनको यही कहा था कि—मैं ऐसा ही करूँ।

इसीलिए मेरी साहित्य-साधना चिरकाल से अल्पपरिधिविशिष्ट नहीं है। सम्भवतः यही मेरी त्रुटि है, सम्भवतः यही मेरी सम्पद् है, आप लोगों का स्नेह और प्रेम पाने का सच्चा अधिकार है। शायद आप लोगों के मन के कोने में यही बात है,—यह शक्ति कम है, भले ही हो,

किन्तु बहुत जानने का ढोंग दिखाकर इसने कभी हमें अकारण ही प्रताड़ित नहीं किया है ।

इसी तरह एक बार किसी जन्म-दिवस के अवसर पर मैंने कहा था, मैं दीर्घजीवी होने की आशा नहीं करता । क्योंकि, संसार में बहुत-सी ही बातों की तरह मानव मन का भी परिवर्तन होता रहता है । इसलिए आज जो बात बड़ी है, वही यदि किसी दूसरे दिन तुच्छ हो जाय, तो इससे आश्चर्य में न पड़ना चाहिये । उस दिन मेरी साहित्य-साधना का वृहत्तर अंश भी यदि अनागत की अवहेलना से डूब जाय, तो मैं उसके लिए दुःख का अनुभव न करूँगा । केवल अपने मन में इतनी ही आशा रख जाऊँगा कि बहुत कुछ छोड़ देने पर भी यदि कहीं सत्य रह गया हो तो वह मेरे लिए रह ही जायगा । मेरा वह सत्य मिट नहीं सकेगा । धनवान का विपुल ऐश्वर्य भले ही मुझे उपलब्ध न हो सका, फिर भी वाणी-देवी के अर्घ्य-भण्डार में उसी स्वल्प सञ्चयमात्र को रख जाने के ही लिए मेरी आजीवन साधना रही है । जीवन के अन्तिम भाग में इसी आनन्द को मन में लेकर प्रसन्न हो मैं बिदा लूँगा—समझ जाऊँगा कि मैं धन्य हूँ, मेरा जीवन व्यर्थ ही नहीं बीता ।

प्रचलित रीति यही है कि उपसंहार में अपने शुभाकांक्षी प्रीति-भाजन इष्ट-मित्रों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की जाती है । किन्तु इसे व्यक्त करने योग्य भाषा मुझे नहीं मिली । इसीलिए मेरा केवल यही कथन है, कि मैं सचमुच ही आप लोगों के प्रति बहुत ही कृतज्ञ हूँ ।

मेरे तरुण मित्रो ! अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ प्रसाद आज मुझे मिल गया—मुझे तुम लोगों के चित्तलोक में स्थान मिल गया । तुम लोग मुझे प्यार करते हो, अपनी साहित्य सेवा का इससे बड़ा पुरस्कार की बात मैं अपनी कल्पना में ला भी नहीं सकता । जो तरुण-शक्ति युग-युग में, समय-समय पर पृथ्वी का नये सिरे से गठन करती है, जिनकी दृष्टि प्रसारित है, जो अनुचित बन्धन को नहीं मानते, बड़े मन लेकर सर्वत्याग की

वाणी का अवलम्बन लेकर जो लोग जिस किसी भी क्षण पृथ्वी के परम रूखे मार्ग से यात्रा कर सकते हैं, उन्होंने आज मुझे अपना मान लिया है, इस आनन्द की स्मृति मेरे चिरजीवन का सञ्चय बन गया। अपनी साहित्य-साधना का मूल्य निर्धारण करने का भार मैंने तुम लोगों को सौंप दिया है। आशा है, दूसरे जो कुछ भी कहें, तुम लोग किसी दिन भी मुझे गलत न समझोगे। देश के लिए, अवहेलित मानव-समाज के लिए मैंने किस हद तक कार्य किया है, इसका निर्णय करने का भार भावीकाल के समाज के ऊपर रहा। बहुत बार बहुत से स्थानों पर, मैं जो बात कह चुका हूँ, उन्हीं बातों को पुनः आज मैं तुम लोगों के सामने दोहराना चाहता हूँ। तुम लोग किसी दिन, किसी भी कारण से मिथ्या को स्वीकार मत करना। सत्य का मार्ग, अप्रिय सत्य का मार्ग—यदि परम दुःख का भी मार्ग हो, तो उस अवस्था में भी, उस दुःख को वरण करने की शक्ति तुम लोग अपने में संग्रह करो। देश का और दस जनों का जो भविष्य तुम लोगों पर निर्भर है, वह भविष्य तो कभी दुर्बलता के द्वारा, भीरुता के द्वारा या असत्य के द्वारा गठित नहीं होता, इसी बात को देश के लोग तुम लोगों की तरफ ताकते हुए निरन्तर याद रख सकें, यही मेरी कामना है। तुम लोगों को मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारा जीवन सार्थक होवे, और जो थोड़े से दिन मुझे जीना पड़े, मैं भी तुम लोगों की तरफ देखकर बल प्राप्त कर सकूँ, यही मेरी वासना है।

युवावस्था की रचना और वृद्धावस्था की रचना *

एक मामूली धन्यवाद देना आवश्यक है। उसको पूरा कर मैं अपना आज का इतिहास सुनाकर बिदा लूँगा। एक वर्ष के बाद फिर अपने पुराने मित्रों को—जो मुझे प्यार करते हैं, देख सकूँगा, यही सोचकर मैं पीड़ित शरीर लेकर भी यहाँ चला आया।

अभिनन्दन के उपलक्ष्य में मेरे जन्म-दिन पर लड़कों ने जो कुछ कहा है, उसके सम्बन्ध में दो-चार बातें कहकर मैं वक्तव्य समाप्त कर दूँगा। बहुत दिन पहले, शायद आप लोगों को स्मरण होगा, पूजनीय रवीन्द्रनाथ ने साहित्य-विषय पर अपना मतामत व्यक्त किया था। कुछ कड़े रूप में उन्होंने अपना विचार प्रकट किया था। उसका ठीक प्रतिवाद तो नहीं, किन्तु विनय के साथ 'बङ्ग वाणी' में मैंने उनको बता दिया है कि जितना क्रोध लेकर उन्होंने वे बातें कही थीं, उतनी सचाई उनमें है या नहीं? उसके बाद से दो-चार आदमियों के मुँह से जब मैंने सुना, कि मेरा वह कथन ठीक नहीं हुआ है, तब मैंने नवीन साहित्य, जो आजकल समाचार पत्रों में, मासिक पत्रिकाओं में भी विविध रूपों में सदा ही प्रकाशित हो रहा है, उन सबको पिछले कई वर्षों से मन लगाकर मैंने पढ़ डाला। सम्भवतः मेरी समालोचना का कोई विशेष मूल्य नहीं है, क्योंकि मैं समालोचना नहीं कर सकता। केवल अच्छा बुरा लगने के कारण मैं अपना मतामत प्रकट कर सकता हूँ।

आज मुझे दुःख के साथ कहना पड़ रहा है—यह विषय सचमुच ही भद्दा हो चला है। मेरी यही इच्छा बराबर रही है कि, जिसको कवि लोग रस-वस्तु कहते हैं, उसे ही लेकर, वे अपने यौवन की शक्ति,

---

* अपने ५[illegible] वें जन्म दिवस पर किये गये अभिनन्दन के उत्तर में शरत् बाबू ने यह भाषण किया था।

अपनी अभिज्ञता, इच्छा, प्रवृत्ति को तैयार करें। मैं उन्हें प्यार करता हूँ और इसी तरह से ही मैं सदैव ही उनको उत्साह देता आया हूँ। जिनकी अवस्था अधिक हो चुकी है, उनका मन भिन्न प्रकार का हो गया है। हम अपने यौवन काल को पार कर गये हैं। इसीलिए यौवन की अनेक रचनाएँ अब शायद पढ़ने में अच्छी ही नहीं लगतीं, और मैं उस तरह का साहित्य अब लिख भी नहीं सकता। इसीलिए मैं यही चाहता हूँ कि, जिनकी अवस्था कम है, वे, अपनी इच्छा, प्रवृत्ति और उसके साथ एक विशुद्ध मन लेकर सच्चे साहित्य की रचना करते रहें और साहित्य की उन्नति करते रहें। वे बँगला भाषा में बड़ी-बड़ी चीजें लिख जायँगे, यदि आन्तरिक चेष्टा लेकर साहित्य-रचना करेंगे। किन्तु एक वर्ष की अभिज्ञता के फल से मेरा मन ठीक अन्य प्रकार का हो गया है। मैं देख रहा हूँ कि मैं जिसको रस रूप में समझता हूँ, उनमें उसका बहुत अभाव है। आँखों को खोलकर देखने से अभाव ही दिखाई पड़ता है। एक मनुष्य की हृदयावृत्ति के जितने भाग हैं, उसके एक भाग की वे मानो अनवरत पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं, वह मानो रुकती ही नहीं है। दो-तीन मित्र भेंट करने के लिए आये थे। उनसे मैंने पूछा—तुम लोग यह क्योंकर रहे हो? उन्होंने उत्तर में कहा—हम इसलिए रहे हैं कि हमारे लिए कोई दूसरा Scope नहीं है। हम जिस समय जो बात सोचते हैं, यौवन में जो कुछ प्रार्थना करते हैं, उस तरफ से रस-रचना या साहित्य-रचना का उपयुक्त क्षेत्र हम नहीं पाते—यह कहकर उन्होंने दुःख प्रकट किया। मैंने उनसे कहा—केवल एक बात में तुमलोग वेदना अनुभव कर रहे हो। बहुत दिनों का संस्कार, बहुत दिनों का समाज है,—इसमें त्रुटि, भूल, अभाव, अभियोग बहुत कुछ रह सकते हैं। वेदना का क्या कोई और वस्तु तुम नहीं देख पाते? मानव-जीवन, समस्त संसार, इतनी बड़ी पराधीन जाति, ये सब तो हैं ही। इस स्थिति की वेदना का क्या तुम लोग अनुभव नहीं करते? हम सब देशों से अधिक दरिद्र हैं,

हममें शिक्षा का कितना अभाव है, सामाजिक बातों में कितनी त्रुटियाँ हैं—इन सबको लेकर तुम लोग काम क्यों नहीं करते ? इसका अभाव, इसकी वेदना, क्या तुम लोगों को पीड़ा नहीं देती ? इसके लिए क्या तुम लोगों के प्राणों में रुलाई नहीं आती ? तुम लोगों में साहस है, किन्तु साहस केवल एक तरफ रहने से ही तो काम न चलेगा। जिसको तुम लोग साहस समझ रहे हो, उसे मैं साहस का अभाव समझता हूँ। जिस तरफ सजा का भय नहीं है, उस तरफ कोई तुमलोगों का विशेष कुछ न कर सकेगा। जिस तरफ सजा का भय है, उस तरफ सचमुच ही साहस की आवश्यकता है। उस जगह तुमलोग नीरव रहते हो। तुमलोगों में लिखने की शक्ति है, यह मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु तुम लोगों ने दूसरी चीज को नहीं पकड़ा। पराधीन देशों में कितने प्रकार के अभाव हैं—कितने रूपों में हैं—इसे मानों तुम लोग बिलकुल ही अस्वीकार करते चले जा रहे हो।

इसका जवाब उन लोगों ने दिया, हम साहित्यिक हैं, वे सब विषय साहित्य के अङ्ग नहीं हैं। उस तरफ हमलोग काम नहीं कर सकते, इच्छा भी नहीं होती, अभिज्ञता भी नहीं है। थोड़ी देर बाद उन लोगों ने शिकायत की—साहित्य को छोड़कर मैं जो उस तरफ चला जा रहा हूँ, यह काम अच्छा नहीं हो रहा है। मैंने उनसे कहा था, शायद वह साहित्य का क्षेत्र नहीं है। मैं देख रहा हूँ—मेरा लिखना रुक गया है, इस कारण उस तरफ जाने को मैं क्षति नहीं मानता। मैं यदि उस तरफ बिलकुल ही नहीं जाता, तो उस दशा में जितनी क्षति होती, उतनी क्षति उस तरफ जाने से होती। उसकी तुलना में, मैं उसे क्षति नहीं मानता। लाभ हो, या क्षति हो, मेरा जीवन तो समाप्त ही हो रहा है। राख धूल जो कुछ भी हो, कुछ लिखित साहित्य तो मैं छोड़ ही जा रहा हूँ। तुम लोगों ने तो अभी आरम्भ किया है, इस बात को अस्वीकार मत करो। दूसरे देशों की जो दो-चार पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं, उनमें मैंने देखा है, हर

बात में वे कभी आँखों को बन्द कर नहीं पड़े रहे, इसके लिए वे बहुत सहन कर चुके हैं, बहुत दण्ड भोग चुके हैं, तुमलोग भी वैसा ही क्यों नहीं करते ?

इतने युवक छात्र पढ़ रहे हैं, साहित्य चर्चा कर रहे हैं, उनसे मैं मुक्तकंठ से यही कहूँगा।

साहित्य-सभा में भाषण

मुझे आपलोगों ने आज यहाँ बुलाकर परम गौरव प्रदान किया है। किन्तु पाँच वर्ष पहले रविबाबू ने यहीं खड़े होकर कहा था—कहते हुये मुझे संकोच का अनुभव हो रहा है, क्योंकि मैं लिखता तो जरूर रहता हूँ, परन्तु बोलने की शक्ति मुझमें नहीं है—सभी सब काम नहीं कर सकते। मैंने कुछ पुस्तकें जरूर लिखी हैं; किन्तु मुझसे आपलोग इससे अधिक यानी भाषणों की अपेक्षा या आशा न करें।

मैं साहित्यिक हूँ—इसी कारण साहित्य के विषय पर बोलना ही मेरे लिए स्वाभाविक है। राजा राममोहन राय के समय से '× हुतुम पेंचा के नक्शे' आदि के जरिये बंगला साहित्य जिस तरह महान हो उठा था, उसके इतिहास की ठीक जानकारी मुझे नहीं है। गनेश बाबू इस विषय पर ठीक बता सकेंगे।

आज से दस वर्ष पहले—पहली बार मैं साहित्य क्षेत्र में खड़ा हुआ था। 'यमुना' नामक एक पत्रिका थी। उसकी ग्राहक संख्या कुल बत्तीस थी—कोई उसमें लिखता नहीं था। मैं उस समय बर्मा से यहाँ आया

× महात्मा कालीप्रसन्न का छद्मनाम 'हुतुमपेंचा' था। उनकी रचित पुस्तक 'हुतुमपेंचार नक्शा है।'

था। सम्पादक ने कहा—कोई भी इसमें लेख देना नहीं चाहता, तुमको लिखना पड़ेगा। कोई लेख देना नहीं चाहता, इसीलिए मुझे लिखना पड़ेगा, यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात नहीं है। मैंने कहा—बाल्यकाल में मैंने लिखा तो जरूर था, किन्तु उसके बाद तो मैंने नहीं लिखा। सम्पादक ने कहा—इसी से काम चल जायगा। उसके बाद मैं बर्मा वापस चला गया। लगातार तार के बाद तार पाते रहने से लिखना ही पड़ा। तभी से इन दस वर्षों में, मैंने ये पुस्तकें लिखी हैं। किन्तु पहले ही मैं कह चुका हूँ—साहित्य का इतिहास मैं विशेष नहीं जानता। किन्तु जिसे आधुनिक साहित्य कहते हैं, उसकी रचना जब मैं कर रहा हूँ, तब मैं यदि यह कहूँ कि मैं नहीं जानता, तो यह अतिरिक्त विनय हो जायगा। यदि मैंने कुछ अप्रिय सत्य कह दिया हो तो आपलोग मुझे क्षमा करें।

मैंने पहले ही देख लिया कि—छोटी-छोटी कहानियाँ बहुत आवश्यक हैं। रवि बाबू पहले लिख गये हैं, उसके बाद किसी ने फिर वैसा नहीं लिखा। मैं लिखने लगा। सम्पादक ने कहा—'देखो, प्रेम-पूर्ण नहीं। वह एकदम पुरानी चीज हो गयी है। जिसमें दुर्नीति न रहे, उस तरह की अच्छी कहानियां लिखो। मैंने लिखी। उनलोगों ने कहा—ये अच्छी बन पड़ी हैं। क्रमशः जब मैं साहित्य में आने लगा तब दिखाई पड़ा—लोग कहते रहे—दुर्नीति का प्रचार मत करो, प्रेम सम्बन्धी गल्प मत लिखो, यह मत करो, वह मत करो।—इस तरह कहते रहने से तो काम न चलेगा। तब मैंने "चरित्र हीन" लिखना शुरू किया, उस पुस्तक को बहुत प्रसिद्धि मिली। जब मैंने उसे लिखा तब—देश के छात्रों का चरित्र नहीं रहा, देश दुर्नीति में डूब गया, साहित्य की स्वास्थ्य-रक्षा नहीं हुई—प्रभृति अनेक गाली गलौज ही सुननी पड़ी। किन्तु मैं बर्मा चला गया।—गालियाँ उतनी दूर न पहुँच सकीं।

मैंने सोचा—भय के मारे लिखना छोड़ दूँ, यह तो कोई ठीक बात न होगी। क्योंकि सभी चीजें बदलती हैं। आज जो सत्य है, दस वर्ष

बाद वह फिर सत्य न रहेगा। आज जो असत्य है, आज जो अन्याय है, सम्भवतः एक सौ वर्ष बीत जाने पर उसका स्वरूप बदल जायगा। जो लोग लेखक हैं यदि वे पचास वर्ष या एक सौ वर्षों की बातों की कल्पना अग्रिम रूप से न कर सकें तो काम चलेगा नहीं। आज जिनको यह मालूम हो रहा है कि लोग बिगड़ जायंगे, तब उनको यह बात याद ही न रहेगी। मनुष्यों के विचार बराबर बदलते जा रहे हैं।

साहित्य-निर्माण के काम में दो प्रकार के मनुष्य लगे हुये हैं। बहुत से लोग लिख नहीं रहे हैं, काम करते जा रहे हैं। हम लेखकों के लिए चरित्र अंकित करने की सामग्री जो लोग जुटा रहे हैं, उनको वे नहीं जानते।

इसके सिवा और भी एक दल है उन लोगों का—जो केवल परीक्षा करते रहते हैं। हम समाज के बाहर जा रहे हैं या नहीं, दुर्नीति का प्रचार कर रहे हैं या नहीं—यही सब वे देखते रहते हैं। रवि बाबू ने उस दिन कहा—वे हैं स्कूलमास्टर-दल के लोग। उनको हम महत्व नहीं देंगे। उनके विधिनिषेधों को हटाकर जैसी खुशी होगी, वही करेंगे। किन्तु मेरा विचार यही है कि, ऐसी बात कही नहीं जा सकती। उनकी भी हमें ज़रूरत है। उनको कहने का अधिकार है। हम सभी मिलकर ही भाषा को लगातार गढ़ते जा रहे हैं।

उस दिन भी मैंने यह बात कही थी, कि आजकल एक अफवाह फैल गयी है—बंकिम बाबू को अब कोई भी नहीं मानता, वे जैसी भाषा लिखते थे, उसे अब कोई नहीं लिखता। मेरा मत यह है कि, बंकिम बाबू का काम पूरा हो गया। उनकी भाषा को अब लाँघ जाना होगा। उनकी Idea (विचार) को छोड़ जाना होगा। मुझे मालूम होता है—"उनके अनेक चरित्रों में त्रुटियाँ हैं। अनेक चरित्रों में सामञ्जस्य नहीं है। ऐसा करना आवश्यक है, यह अच्छा नहीं है—इसी रीति से वे लिख गये हैं। जिसको उन्होंने अच्छा बना दिया है—उसको अच्छा ही

बनाया है और जिसको खराब बनाया है, उसको खराब ही रख छोड़ा है। इससे अधिक वे आगे बढ़ नहीं सके हैं। शायद उन्हें ऐसा करने की जरूरत ही नहीं पड़ी हो, अथवा समाज की प्रतिष्ठा रखकर कुछ कह नहीं सके हों, अथवा फलाफल सोचकर कुछ नहीं कहा हो—मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। उनके साथ तो मेरा परिचय भी नहीं था। किन्तु, अब मालूम होता है—चरित्र के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत भूलें की हैं। आजकल की दुनियाँ की तरफ ध्यान दें, तो जहाँ पर पहुँच कर वे ठहर गये हैं उस जगह रुक जाने से काम न चलेगा। सच बात कहनी ही पड़ेगी।

मैंने सच बात सीधी तरह से कहने की चेष्टा की है। वास्तव में मैंने देखा है कि अमुक चीज जरूरी है। इसी कारण इसके लिए मैं लज्जा नहीं करता। साहित्य-निर्माण करने की शक्ति शायद मुझमें नहीं है। किन्तु कुछ थोड़ी सी बातें कह देने की चेष्टा मैंने की है, अनेक प्रकार के लोगों के साथ मिल-जुलकर जो कुछ मैंने देखा-सुना है—उसे ही लिखता जा रहा हूँ, यह कहने से मैं डरता नहीं हूँ। क्योंकि पहले ही मैं कह चुका हूँ—एक सौ वर्ष के बाद मालूम होगा कि, यही सत्य है।

अपने सम्बन्ध में मैं बहुत कुछ कह चुका। देखने-सुनने में यह कोई अच्छी बात नहीं है। मैंने जो कुछ कहा था, वही मैं कहूँगा। आज कल एक तर्क उठ पड़ा है—हम लोग दुर्नीति का प्रचार कर रहे हैं। जो खराब है, निकृष्ट है, वही सब हम लिख रहे हैं। रविबाबू को भी लोगों ने बहुत गालियाँ सुनायी हैं। मैं उनका शिष्य हूँ, मुझे भी कोई कम गालियाँ नहीं खानी पड़ी हैं। शायद केवल युवक सम्प्रदाय ही मेरा पृष्ठपोषक है। जो लोग मेरे समवयस्क हैं, अथवा मुझसे अधिक उम्र के हैं, वे चिल्ला रहे हैं, कि मैं क्षति कर रहा हूँ। मैंने ऐसी चीजें लाकर सबके सामने रख दी हैं, जो पहले नहीं थीं, शायद जो अत्यन्त गन्दी

है। अवश्य ही मैं ऐसा नहीं समझता, कि सभी सत्य साहित्य में स्थान पा सकते हैं। अनेक कुत्सित विषय हैं, जिनसे साहित्य नहीं तैयार होता। (यह बात मैंने कह दी, क्योंकि इसके बिना बहुत से लोग मुझे ठीक तौर से समझ न सकेंगे।) किन्तु मैंने जो चीज देने की चेष्टा की है, वह क्रमागत रूप से समाज में आ चुकी है, हमारी आँखों के सामने वे मौजूद हैं, वे समाज का अङ्ग बन चुकी हैं, उसे कुत्सित कहकर अस्वीकार करने से काम न चलेगा। उसे साहित्य में स्थान देना ही पड़ेगा। मैंने पापी का चित्र अङ्कित किया है। शायद उन लोगों ने पाप किया है, इसी कारण खूनी आदमी की तरह उनको क्या फाँसी देने की जरूरत है ? मनुष्य की आत्मा का मैं कभी अपमान नहीं कर सकता। किसी भी मनुष्य को एकदम जानवर समझने में मुझे व्यथा होती है। मैं ऐसा सोच ही नहीं सकता कि मनुष्य एकदम खराब होता है, उसमें कोई सुधरने की क्षमता होती ही नहीं है। अच्छाई, बुराई—ये दोनों ही सभी में मौजूद हैं, किन्तु सम्भवतः बुराई ही किसी में अधिक परिस्फुट हो पायी है। किन्तु इसीलिए उससे घृणा क्यों करूँ ? अवश्य ही मैं कभी यह नहीं कहता कि पाप अच्छा है। मैं पाप के प्रति मनुष्य को प्रलुब्ध करना नहीं चाहता। मैं कहता हूँ कि, उन लोगों में भी तो भगवान् की दी हुई मनुष्य की ही आत्मा मौजूद है। उसको अपमानित करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

मैंने ऐसी चीजें बहुधा उन लोगों में देखी हैं, जो बड़े समाज में नहीं हैं। महत्व नामक चीज कहीं भी सामूहिक रूप में नहीं रहती। उसका पता लगाकर ढूँढ़ लेना पड़ता है। जब मनुष्य महत्व का पता लगाना भूल जायगा, तब वह अपने को छोटा बना देगा। मैंने अधिकांश समयों में उनमें जो बातें अच्छी हैं, वही दिखाना चाहा है, क्योंकि उन्हें उपेक्षित करने का अधिकार मुझे नहीं है। जो चीज महान है, उसके प्रति सम्मान-प्रदर्शित ही करना पड़ेगा। यदि ज्ञान को आवश्यक माना जाय,

तो उसे खराब चीज़ों में भी ढूँढ लेना पड़ेगा—हानि की आशंका रहने पर भी ढूँढ लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त जान लेने के लिए ही आकर्षित होना होगा, इसका क्या कोई अर्थ होता है?

मैं समझता हूँ कि मनुष्य को यह बात समझा देना आवश्यक है कि खराबी के भीतर भी, मन ही मन महत्व को पहचानना होगा। पापियों के प्रति घृणा करो—यह एक Conversion (रूपान्तर या शुद्धि करण) है, इसे शायद मैं नहीं जानता। इसीलिए लोग यही सोचते हैं कि मैंने ऐसा काम किया है, जिससे युवक-समाज उच्छृङ्खल हो जायगा, और सामाजिक सङ्गठन छिन्न-भिन्न हो जायगा। किन्तु मैंने केवल यह दिखाना चाहा है कि, पापियों के प्रति घृणा मान लेने पर भी, उनमें जितनी भी अच्छाई हो, उसके प्रति अन्धा नहीं बन जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त मैं बार-बार यह बात कहता आया हूँ कि आज जिसे लोग नीति मानते हैं, भले-बुरे के जिस तराज़ू पर उसका विचार किया करते हैं, वह कौन जाने कल बदल भी सकता है। लिखना ही जिनका पेशा है, वे भी यदि केवल समाज में जो कुछ देखते हैं या जो कुछ हो रहा है, उसे ही लेकर विचार-विमर्श करते रहें, यह भी तो अच्छा नहीं मालूम होता।

देखिये, किसी समय विधवा-विवाह की चर्चा करना बहुत खराब बात मालूम होती थी। जो लोग इसके पक्ष में बोलते या साहित्य में लिखते थे, उनके विरुद्ध समाज हाथ में तलवार लेकर खड़ा हो जाता था। 'पल्ली समाज' नामक मेरी एक पुस्तक है। उसके सम्बन्ध में बहुत से ही लोग पूछते हैं—'इसके नायक-नायिकाओं के बारे में तो आपने कुछ भी नहीं किया, यह कैसी बात है?' फिर कोई कहते हैं, 'इस पुस्तक के कारण गाँव-गाँव में बुराई फैल जायगी और इसका परिणाम बुरा होगा।' मैंने उस पुस्तक में यही बताना चाहा था—यह देहाती समाज है। हम शहर के रहनेवाले समझ रहे हैं कि वहाँ काफ़ी शिक्ष

रहे हैं, मनुष्य भाई-भाई की तरह प्रेम के आलिङ्गन में बँधते जा रहे हैं, चाँदनी फैलती जा रही है इत्यादि। किन्तु वहाँ भी पोखरी में गन्दे फूल खिल रहे हैं, विलायती घासों से वे एकदम भरती जा रही हैं, वहाँ भी दलबन्दियों का तो कोई अन्त ही नहीं है।

पल्ली समाज की विधवा नायिका रमा है। उसके विवाह के छः मास बाद उसके पति की मृत्यु हुई। वह अपने बाल्यकाल के मित्र को शुरू से ही प्यार करती थी। अन्त में नायक जेल से लौट आया। नायिका ज्वर पीड़ित होकर काशी या कहीं चली गयी। समूची कहानी छिन्न-भिन्न हो गयी। इसीलिए बहुत से लोग कहते हैं, आपने कुछ भी आवश्यक बात नहीं कही, किसी भी समस्या की पूर्ति आपने नहीं की, सबके अन्त में अद्भुत बात हो गयी। मैं कहता हूँ, कि वह काम मेरा नहीं है। मैंने दिखाया है—गाँव में नायक की तरह एक महत् प्राण आ गया, नायिका की तरह महत् नारी आ गयी। समाज ने उनको उत्पीड़ित किया। समाज को क्या लाभ हुआ? इन दोनों प्राणियों का यदि मिलन हो जाता, यदि समाज इन्हें ग्रहण कर लेता, तो दस गाँवों के लिए आदर्श उपस्थित हो जाता। हमने उनको दबा दिया। दो व्यक्तियों की जिन्दगी बरबाद कर दिया, इसीलिए Concluson (परिणाम) भी छिन्न-भिन्न हो गया।

Social Reform (सामाजिक सुधार) या उसका निर्माण करना Construction मेरा काम नहीं है। मेरा व्यवसाय है लिखना। ये दोनों...जो देख रहे हैं वह यदि सत्य हो जाता तो समाज लाभान्वित होता, मैंने यही दिखाना चाहा था। जो लोग इसे अन्याय समझते हैं, वे इसके लिए मुझे गालियाँ दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त जो लोग मेरे आत्मीय हैं, वे भी मुझसे कहते हैं—इस विषय में तुमने अन्याय किया है। जो स्त्री विधवा हो गयी, उसे अपने पति का ध्यान करते रहना चाहिये था, किन्तु ऐसा न करके वह एक दूसरे को ही प्यार करती है। यह तो उसके लिए उचित नहीं हुआ। इसके उत्तर में

मैं और क्या कहूँ ? यही एक बात कहने योग्य है, भला-बुरा, उचित अनुचित का मापदण्ड युग-युग में बदलता रहता है। एक और चीज देखने की जरूरत है। जिसके विरुद्ध दुर्नीति का प्रचार करने का अभियोग लगाया जाता है, उस सम्बन्ध में यह भी विचार करना होगा कि वह कोई नवीन Idea (विचार) दे रहा है या सत्य के बहाने कुछ गन्दी चीजों को ही केवल चला रहा है। झूठ-मूठ कुत्सित बातें कह-कर कोई अधिक दिनों तक टिक नहीं सकेगा। यदि चीजें सचमुच गन्दी हैं तो वे सभी नष्ट हो जायँगी। असल बात यह है कि सम-सामयिक भाव के साथ मेरे विचारों का मेल नहीं बैठता। इसीलिए वह दुर्नीतिमूलक हो गयी। यदि लोग यह देख लें कि लेखक की बातों पर विचार करने की जरूरत है, तो उस हालत में किसी प्रकार के आक्षेप के लिये स्थान ही न रह जाय।

आज मैंने बहुत-सी बातें कह दीं। इसका कारण यह है कि ये बातें बहुत छिन्न-भिन्न-सी होती जा रही हैं। उस दिन मुझे Oriental Seminary में लोग बुला ले गये थे। वहाँ कुछ लोगों ने मुझे खूब कहा (किसी को इस तरह बुलाकर गाली-गलौज देना—वैसे यह तो कोई बहुत खराब बात नहीं है)। उन लोगों ने एक पुस्तकालय खोला है। वहाँ शायद दुर्नीतिमूलक उपन्यासों की भरमार हो रही है, उससे लड़कों का चरित्र नष्ट हो रहा है और इसके लिए शायद मैं भी जिम्मेदार हूँ। मैंने कहा—यह चीज यदि वास्तव में खराब हो गयी है, तो आप लोग एक काम कीजिये—पुस्तकालय हटाकर एक संकीर्त्तन-दल कायम कर लें। तब अच्छी तरह नीति का प्रचार होगा।

इस प्रसंग पर कुछ कहने की अब जरूरत नहीं है। मैं केवल यही कहना चाहता था कि, आज आपलोगों ने मेरे सम्बन्ध में कुछ कहते समय बहुत ही शरारतियाँ कर डाली हैं। किन्तु आपलोग यदि यह समझते हों कि, जिस चीज को साहित्यिक अपनी कल्पना के द्वारा देख रहे

हैं—उसी प्रकार मैंने दिखाने की चेष्टा की है तो उससे बढ़कर आनन्द का विषय मेरे लिए कुछ और नहीं है। आपलोग देश के आशा-स्थल हैं। आप लोगों में से बहुत से ही लोग किसी दिन समाज में गण्य-मान्य हो जायँगे। आपलोगों की प्रशंसा ही मेरे लिए गौरव का विषय है।

आज मैं पूर्णतः स्वस्थ नहीं हूँ—अतः मैं इसी जगह अपनी आलोचना समाप्त करता हूँ।

—:०:—

प्रतिभाषण

आपलोगों की यह शिकायत है कि मैं यहाँ आता नहीं। इसका कारण यह है कि भाषण देना होगा और मन में इस विचार के उठते ही बस मेरा हृदय काँपने लगता है। मैं किसी तरह भी कुछ बोल नहीं सकता। मैं कुछ लिख सकता हूँ, कुछ-कुछ मैंने लिखा भी है। उससे यदि आपलोगों को प्रसन्नता प्राप्त हुयी हो, तो मैं भी प्रसन्न हूँ। कुछ कहकर उपदेश दे सकूँ, किसी पुस्तक की समालोचना कर दूँ, या कोई नया अर्थ व्यक्त कर दूँ, यह शक्ति मुझमें नहीं है। जो कुछ है, वह पुस्तकों में ही है। उन्हीं में मुझे ढूँढ़िये, अपनी पुस्तकों के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने योग्य बात मेरे पास नहीं है।

मैं आ सकूँ या न आ सकूँ, पर मैं लड़कों को बहुत ही प्यार करता हूँ। कुछ लड़कों ने मिलकर एक संस्था खोल दी है, जिसका नाम रक्खा गया है, बंकिम-शरत्-समिति और इसका उद्देश्य है हमारी पुस्तकों की आलोचना। इस आलोचना के द्वारा अन्यान्य देशों के उपन्यासों के सम्बन्ध में तुमलोगों को जानकारी होगी—तुलनात्मक समालोचना के द्वारा तुमलोग सब कुछ समझ सकोगे। इस समिति को मैं अपने सम्पूर्ण

हृदय से आशीर्वाद दे रहा हूँ। यह संस्था चलती रहे, तुम लोग वही करो, जिससे यह परिपूर्ण हो सके, सुगठित हो जाय। जब मुझे समय मिलेगा, आ जाऊँगा। मैं वृद्ध हो चला, ५३ वर्ष की उम्र हो चुकी। ५४ वर्ष पूरा होगा या नहीं, कह नहीं सकता। अपने वंश का रेकार्ड मैं देख चुका हूँ। मुझे अच्छी तरह याद है, ४४-४५ वर्ष की अवस्था हो जाने पर बाबूजी रोज कहा करते थे—"४४ तो पूरा हो गया, अब अधिक दिन मैं न चल सकूँगा।" मेरा ख्याल है कि मैं भी अधिक दिन न चल सकूँगा! ५४ वर्ष मुझे नहीं मिला, इसके लिए तुमलोग दुःख मत मानो, भले ही मुझे वह मिले, मैं हृदय से यह आशीर्वाद दे रहा हूँ, तुमलोग बड़े बनो! मुझमें शक्ति कम है, तो भी अपने देश को मैं प्यार करता आया हूँ—इस बात में कोई प्रवंचना नहीं है। वास्तव में मैंने इसे प्यार किया है। इसके मैलेरिया, दुर्भिक्ष, इसकी जलवायु इसके दोष-गुण, इसकी त्रुटियाँ या इसमें जो कुछ भी हो, सभी को मैंने सच्चे हृदय से प्यार किया है। विविध अवस्थाओं में पड़कर बहुत तरह के लोगों के साथ घनिष्ठ भाव से मेरा मिलना-जुलना हुआ है। मनुष्य को खूब अच्छी तरह विचार के साथ देखने की चेष्टा करने से उसके भीतर से बहुत सी चीजें निकल पड़ती हैं, तब उसमें जो दोष रहते हैं, जो त्रुटियाँ रहती हैं, उनके लिए सहानुभूति किये बिना कोई रह नहीं सकता।

बहुत से लोग कहते हैं, जो लोग समाज के निम्नस्तर में पड़े हुए हैं, उनके प्रति मेरे मन में अपार सहानुभूति है। यह सच ही है। उनके बाहरी काम धन्धे एक प्रकार के हो गये हैं, इसके लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं, अनेक स्थानों में असल चीज छिपी रह जाती है, उसे मैंने प्रकट करने की चेष्टा की है। वे भी शायद तुमलोगों को अच्छी लगी हैं।

मैं बढ़ा-चढ़ा कर बातें नहीं कर सकता, किन्तु बातचीत कर सकता

हूँ। सभासमितियों में बाध्य होकर मुझे जाना पड़ता है, किन्तु उससे किसी के साथ घनिष्ठ परिचय नहीं होता, किसी को भी जाना नहीं जा सकता। मैं अनेक स्थानों में जा चुका हूँ, किसी ने मुझसे यह नहीं पूछा कि, साहित्य आपका मार्ग किस तरह हो गया ? सभी कहते हैं, एक बड़ा सा सुन्दर भाषण दो, जो कुछ भी हो वही कह दो। यदि यह समिति जीवित रही—आशीर्वाद देता हूँ यह जीवित रहे—ये लोग यदि कभी मुझे निमंत्रण देंगे, तो मैं केवल आ जाऊँगा।

अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध में मुझे विशेष जानकारी नहीं है। मैंने स्वयं उन्हें लिखा है, इसीलिए उनके सम्बन्ध में मैं कोई बड़ा अधिकारी (authority) नहीं हूँ। अन्यान्य ग्रन्थकारों को जिस बात की कठिनाई पड़ती है—जैसे बहुतों को प्लाट ही नहीं मिलता—उसी प्लाट के सम्बन्ध में मुझे किसी दिन चिन्तित नहीं होना पड़ा। मैं कुछ चरित्रों को ठीक कर लेता हूँ, उनको चित्रित करने के लिए जो आवश्यक बातें हैं, वे आप ही आप आ जाती हैं। मन का स्पर्श नामक एक चीज है, उसमें प्लाट कुछ भी नहीं रहता। असल चीज है कुछ चरित्र—उनको स्पष्ट दिखाने के लिए प्लाट की जरूरत है, तब पारिपार्श्विक अवस्था लाकर जोड़ देना पड़ता है, वह आप ही आप हो जाती है। आज कल जो लोग लिख रहे हैं, उनकी भी दृष्टि प्लाट पर नहीं रहती, यही मैं देख रहा हूँ। चरित्रों को चित्रित करने के लिए उनके मुख से बहुत सी बातें निकलती हैं—उनका दुःख, उनकी व्यथा वेदना, उनका आनन्द इस रीति से आ गया है कि गल्पांश में जो कुछ रहता है, उसमें रुकावट नहीं पड़ती।

इस विषय में यदि कुछ जान लेने की इच्छा तुमलोगों की हो तो मैं यथाशक्ति तुमलोगों को बताऊँगा, और समिति का वास्तविक उद्देश्य भी उससे सफल होगा।

मित्र नृपेन बाबू ने मेरे सम्बन्ध में अनेक बातें कही हैं—बहुत ही मीठी मालूम हुईं, उनके साथ मेरा परिचय बहुत दिनों का है। उनका अपना जीवन भी अनेक प्रकार की व्यथा के भीतर ही भीतर बीता है। पहले पहल जब उनका जीवन प्रारम्भ हुआ—जब परीक्षा आरम्भ हुई—तब शिवपुर में उनके साथ मेरा वार्तालाप हुआ। उसके बाद उनसे कभी-कभी मेरी मुलाक़ात होती रही। मालूम होता है कि, अच्छी तरह ध्यान देकर उन्होंने मेरी रचित पुस्तकें पढ़ी हैं। तुमलोगों के स्थायी सभापति श्रीकुमार बाबू अध्यापक हैं। उन्होंने कहा कि, हमें विदेशी साहित्य के भीतर से उस परिमाण में बल नहीं मिलता, जितना अपने साहित्य में मिलता है। वास्तव में किसी एक चीज को समझना, और उसके भीतर से रस ग्रहण करना—ये दोनों दो विभिन्न बातें हैं। अँग्रेजी साहित्य तुम लोग समझ सकते हो। किन्तु रसग्रहण करना पृथक वस्तु है। आदि से अन्त तक प्रत्येक लाइन को मैं समझ सकता हूँ, तो भी जो चीज अपने जीवन में आघात देती है, वह चीज नहीं होती। तुलना के द्वारा अन्यान्य साहित्यों की मीमांसा तुमलोग कर सकोगे।

अभिनन्दन के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ, बहुत ही ठीक हुआ है। बहुधा लज्जा मालूम होती है—वे अत्युक्तियाँ है। तो भी, मनुष्य में दुर्बलता रहती है, कह देना पड़ता है, अच्छी लग रही हैं। अत्यन्त आनन्द के साथ मैंने उसे ग्रहण किया। मेरी यही प्रार्थना है, कि तुम लोगों की चेष्टा सार्थक और सर्वाङ्ग सुन्दर हो।

—:*:—

सत्याश्रयी

छात्र, युवक और समवेत मित्रो ! हमारी भाषा में शब्दों का कोई अभाव नहीं था, फिर भी, जो लोग इस आश्रम के संस्थापक हैं, उन लोगों ने चुनकर इसका नाम रखा था 'अभय आश्रम'। बाहर के लोक-समाज में संस्था को परिचित कराने के नाम बहुत से ही थे, फिर भी, उन लोगों ने नाम रख दिया—'अभय आश्रम'। बाहर का परिचय तो गौण है, मालूम होता है मानो संघ स्थापना करके विशेष रूप से अपने आपको ही उन लोगों ने कहना चाहा था—स्वदेश के काम में हमलोग निर्भीक बन सकें, इस जीवन यात्रा-पथ में हमें किसी प्रकार का भय न रहे। सब प्रकार के दुःख-दैन्य और हीनता की जड़ में मनुष्यत्व के चरम शत्रु भय को भलीभाँति समझकर उन लोगों ने विधाता से अभयवर माँग लिया था। नामकरण के इतिहास में इस तथ्य का मूल्य है, और आज मेरे मन में कोई सन्देह नहीं है कि, उनका यह आवेदन विधाता के दरबार में मंजूर हो गया है। कर्मसूत्र से उनके साथ मेरा बहुत दिनों का परिचय है। दूर से जो कुछ साधारण विवरण मुझे सुनाई पड़ता था, उसके द्वारा मेरे मन में यह आकांक्षा प्रबल थी—एक बार जाकर अपनी ही आँखों से सब कुछ देख आऊँगा। इसीलिए, मेरे परम प्रीतिभाजन प्रफुल्लचन्द्र ने जब मुझे सरस्वती-पूजा के उपलक्ष्य में यहाँ बुलाया, तब उनका वह आमन्त्रण मैंने अतिशय आनन्द के साथ ग्रहण किया। मैंने केवल यही एक शर्त करवा ली थी कि 'अभय आश्रम' की तरफ से मुझे यह अभय दिया जाय कि मञ्च पर बैठाकर मुझे किसी असाध्य कार्य में न लगाया जाय। भाषण करने की विभीषिका से मुझे मुक्ति मिलनी चाहिये। जीवन में यदि मैं किसी बात से डरता हूँ तो इसी से डरता हूँ। तो भी मैंने केवल इतना ही कहा था कि—यदि समय मिलेगा, तो दो-एक पंक्ति लिखकर लेता आऊँगा। यह लिखा हुआ

विषय प्रयोजन की दृष्टि से भी बहुत ही तुच्छ है, उपदेश की दृष्टि से भी वह अत्यन्त तुच्छ है। इच्छा यह थी कि बातों का बोझ और न बढ़ाकर, मिलने-जुलने में आप लोगों से आनन्द का सञ्चय लेकर घर वापस जाता। मैं उस संकल्प को भूल नहीं गया हूँ, और इन दो दिनों में सञ्चय की दृष्टि से भी मैं वञ्चित नहीं हुआ हूँ। किन्तु यह मेरी अपनी बात है। बाहर की भी एक बात है। वह जब आ जाती है, तब उसका दायित्व भी अस्वीकार नहीं किया जाता। तभी प्रफुल्लचन्द्र की मुद्रित कार्य-तालिका सामने आ गयी। पढ़कर मैंने देखा, अभय आश्रम ने पश्चिम विक्रमपुर-निवासी छात्र-युवकों के मिलन-क्षेत्र का आयोजन कर लिया है। लड़के इस जगह समवेत होंगे। वे मुझे छुटकारा न देंगे, कहेंगे—किशोरावस्थासे छपी हुई पुस्तकों के जरिये आपकी बहुत-सी बातें सुन चुके हैं, और आज भी जब आपको हम अपने निकट पा गये हैं, तब जो कुछ भी हो, कुछ सुने बिना हम न छोड़ेंगे। उसके ही फलस्वरूप मैंने इन थोड़ी-सी पंक्तियों को लिखा है, मालूम होगा कि ठीक ही तो है, किन्तु इतनी बड़ी भूमिका की क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तर में मैं एक बात स्मरण करा देना चाहता हूँ, भीतर की वस्तु जब कम रहती है, तब मुखबन्ध के आडम्बर से ही श्रोताओं का मुँह बन्द कर देने की जरूरत पड़ती है।

अपनी चिन्ताशीलता से नयी बात कहने की शक्ति या सामर्थ्य कुछ भी मुझमें नहीं है, स्वदेशवत्सल स्थानीय व्यक्तियों के मुँह से, बहुत-सी सभासमितियों में जो सब बातें आप लोग बहुत बार सुन चुके हैं, मैं केवल उनको ही लिपिबद्ध करके ले आया हूँ। मैंने सोचा है, अभिनवकला भले ही न रहे, मौलिकता कितनी बड़ी हो, उससे भी बड़ा है सत्य बोलना। पुराना होने से ही वह तुच्छ नहीं है, उसे एक बार स्मरण करा देना भी अच्छा काम है। इसी तरह केवल दो-तीन बातों का ही उल्लेख मैं आप लोगों के सामने करूँगा।

कुछ दिनों से मैं एक विषय लक्ष्य करता आ रहा हूँ। सोचता हूँ, इतना बड़ा सत्य इतने दिनों तक कैसे छिपा रहा? उस समय भी सभी यही जानते थे, मानते थे—पालिटिक्स नामक चीज केवल वृद्ध लोगों के ही लिए खासतौर से बनी है। आवेदन निवेदन, मान-अभिमान से शुरू करके क्रोधपूर्ण लाल आँखें दिखाने तक सब कुछ ही, अर्थात् विदेशी राजशक्ति का सामना करने का जो भी दायित्व है, सब जिम्मेदारी उन्हीं लोगों पर है। लड़कों का प्रवेश इस क्षेत्र में एकदम निषिद्ध है। यह केवल अनधिकार चर्चा ही नहीं, बल्कि निन्दनीय अपराध है। वे स्कूल-कालेज में जायँगे, शान्त शिष्ट अच्छे लड़के बनकर परीक्षा पास करेंगे, माता-पिता का मुख उज्वल करेंगे—यही थी सर्व सम्मत छात्र जीवन की नीति। इसका कोई व्यतिक्रम हो सकता है, इसके विरुद्ध कोई प्रश्न उठ सकता है, यह बात मानो लोगों के लिए स्वप्नातीत थी। अकस्मात् पता नहीं, कौन-सी उल्टी तूफानी हवा ने इसके केन्द्र को हटाकर मानो एकदम परिधि के बाहर फेंक दिया। विद्युत-शिखा जैसे अकस्मात् घने अन्धकार की छाती चीरकर वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है, नैराश्य और वेदना की अग्निशिखा ने ठीक उसी प्रकार आज सत्य को उद्‌घाटित कर दिया है। जो बात नेत्रों की आड़ में थी, वह दृष्टि के सामने आ पड़ी है। समग्र भारतवर्ष में कहीं भी आज सन्देह का लेशमात्र भी नहीं है कि, इतने दिनों से लोग जो कुछ सोचते आये हैं, वह उनकी भूल है। उसमें सत्य नहीं था, इसीलिए विधाता ने बारम्बार व्यर्थता की कालिमा सर्वाङ्ग में लगा दी है। यह गुरुभार वृद्धों के लिए नहीं है, यह भार यौवनावस्था का है, युवकों का है। इसीलिए तो आज स्कूल-कालेज में, नगरों में, गाँवों में, घर घर में यौवन की पुकार मच गयी है। यह पुकार वृद्धों ने नहीं की है। उनका यह आह्वान कानों के भीतर से इनलोगों के हृदय तक पहुँच गया है कि जननी के हाथ-पैर में बँधे हुए इस कठोर शृंखला को तोड़ देने की शक्ति प्रौढ़ और प्रवीण

की हिसाबी बुद्धि में नहीं है, यह शक्ति है केवल यौवन के प्राण, चञ्चल हृदय के भीतर। सन्देहरहित आत्म-विश्वास से आज उसे प्रतिष्ठित होना ही पड़ेगा। इतने दिनों तक विदेशी वणिक्-राजशक्ति की कोई चिन्ता नहीं थी। वृद्ध की राजनीति-चर्चा को वह खेल के बहाने ही ग्रहण करता आया था। किन्तु अब उसको खेल करने का अवकाश नहीं है। हर दिशा में यह चिह्न क्या आपलोगों की दृष्टि में नहीं पड़ा है? यदि न पड़ा हो, तो आँखें खोलकर देख लेने को कहता हूँ। आज राज-शक्ति व्याकुल है, अचिर भविष्य में इस अन्धी व्याकुलता से देश भर जायगा—इस सत्य को भी आपलोग हृदयङ्गम करें, यही मेरा कथन है। और मैं यह भी कहता हूँ कि उस दिन इस सत्य की उपलब्धि का कोई अपमान न होने पावे।

यहाँ मैं एक बात कहे जाता हूँ, क्योंकि, सन्देह हो सकता है। सभी देशों में तो राजनीति के संचालन का भार बूढ़ों के कन्धों पर रहता है, किन्तु यहाँ अन्यथा क्यों? अन्यथा यहाँ भी न होगी, एक दिन उनके ही ऊपर राज्य-शासन का दायित्व आ पड़ेगा। किन्तु वह दिन आज नहीं है। अभी तक वह दिन आया नहीं, क्योंकि, देश पर शासन करना और उसको स्वाधीन बनाना एक ही चीज नहीं है। यह बात याद रखना नितान्त आवश्यक है कि राजनीति का संचालन करना एक पेशा है। जैसे डाक्टरी, वकालत, प्रोफेसर है। अन्यान्य सभी विद्याओं की तरह इसको भी सीखना पड़ता है, प्राप्त करना पड़ता है, प्राप्त करने में समय भी लगता है। तर्कों का दाँव-पेच, बातों को काटने-पीटने की लड़ाई, कानून को आड़ में ढूँढ़-ढूँढ़कर कड़ी-कड़ी दो चार बातें सुना देना—फिर ठीक समय पर आत्म संवरण और विनीत भाषण—कठिन हिदायतें और उपयुक्त उम्र के बिना इसमें पारदर्शिता नहीं उत्पन्न होती। इसका नाम ही पालिटिक्स है। स्वतंत्र देशों में इससे जीविका-निर्वाह होता है, किन्तु पराधीन देश में वैसी व्यवस्था नहीं है। यहाँ

देश को मुक्त करने के मार्ग में पग-पग पर अपने आपको वंचित करके चलना पड़ता है। यह पेशा नहीं है, वरन यह धर्म है। इसीलिए, परम त्याग का यह पथ केवल यौवन ही ग्रहण कर सकता है। यह उनकी स्वाधिकार चर्चा है, यह अनधिकार चर्चा नहीं है। इसीलिए राजशक्ति ने इसे भय की दृष्टि से देखना शुरू किया है। यही बात स्वाभाविक है, और इसके गति-पथ में विघ्न की कोई सीमा न रहेगी, यह बात भी उसी प्रकार स्वाभाविक है। किन्तु इस सत्य को क्षोभ के साथ नहीं, सानन्द मानकर अग्रसर होने के ही लिए आज मैं आप लोगों आह्वान कर रहा हूँ।

शब्दों की घटा और वाक्यों की छटा से मैं उत्तेजना की सृष्टि नहीं कर सकता। शान्त समाहित चित्त से सत्य को समझने के ही लिए मैं अनुरोध करता हूँ। हम अपने आपको भूल जाने वाली जाति हैं। हमारे पास यह था, वह था, यह है, वह है—इसलिए नींद टूट जाने से, आँख मलकर उठ बैठने से ही हम सब कुछ पा जायँगे ! इस जादू विद्या का आश्वासन देने की प्रवृत्ति मुझे किसी दिन भी नहीं होती। जगत् चाहे माने या न माने हम बहुत बड़ी जाति के हैं, इस बात की बहुत धूम मचाकर विभिन्न दिशाओं में घोषणा करके घूमते रहने में भी जिस तरह मैं गौरव अनुभव नहीं करता हूँ, उसी तरह विदेशी राजशक्ति को भी धिक्कारने और कोसने में लज्जा का अनुभव करता हूँ कि, तुम अँग्रेज लोग कुछ भी नहीं हो, अतीत काल में जब हमलोगों ने बड़े-बड़े काम किये थे, तब तुम लोग केवल पेड़ों की डाल-डाल पर घूमते फिरते थे। और व्यंग-ताने के साथ यदि कोई मुझे कहता कि तुम लोग यदि सच-मुच ही इतने बड़े हो, तो एक हजार वर्षों से लगातार एक बार पठान, एक बार मुगल, एक बार अँग्रेजों के पैरों के नीचे माथा क्यों रगड़ते रहे ? तो इस उपहास के उत्तर में, मैं इतिहास की पोथी रटकर अन्यान्य जातियों की दुर्दशा की नजीर दिखाने में भी घृणा अनुभव करता हूँ।

वस्तुतः इस तर्क से कोई लाभ नहीं है। विगत दिनों में तुम्हारे पास क्या था, मेरे पास क्या था, इसे लेकर ग्लानि बढ़ाने से क्या मिलेगा —मैं कहता हूँ, अंग्रेजो! आज तुम बड़े हो। शौर्य में, वीर्य में, स्वदेश प्रेम में तुम्हारी बराबरी की कोई जाति नहीं है, किन्तु बड़ा होने का बहुत-सा माल-मसाला मेरे पास भी मौजूद है। आज देश का यौवन, पथ की खोज में चञ्चल हो उठा है, उसे रोकने की शक्ति किसी में नहीं है, तुममें भी नहीं है। तुम जितने ही बड़े क्यों न हो, हम तुम्हारी ही तरह बड़े होकर अपने जन्मगत अधिकार को अवश्य ही उपलब्ध कर लेंगे।

किन्तु किस संज्ञा से यौवन को निर्देश किया जाय? अतीत जिसके लिए अतीत से अधिक नहीं है, वह जितना ही बहुत क्यों न हो, अन्तर्मन में उसको ही पाल कर समय बिताने का अवसर जिसके पास नहीं है, जिसकी बृहत्तर आशा और विश्वास अनागत को अन्तराल में कल्पना से उद्भासित है—वही तो यौवन है। इसी जगह वृद्ध की पराजय है। उसकी शक्ति प्रायः समाप्त हो चली है, उसका भविष्य आशा-हीन और शुष्क है, उसका पथ अवरुद्ध है, अन्तिम जीवन के इने-गिने दिनों को इसीलिए पूरे प्राण के साथ जकड़ रखने में ही उसको सान्त्वना है। इस अवलम्बन को वह किसी प्रकार भी छोड़ नहीं सकता, ऐसा करते उसे भय लगता है, इससे विच्युत हो जाने पर उसके लिए फिर कहीं खड़ा रहने का स्थान न रह जायगा। स्थितिशील शान्ति ही उसका एकान्त आश्रय है। बहुत दिनों तक आबद्ध पिंजड़े के पक्षी की तरह, मुक्ति ही उसका बन्धन है, मुक्ति ही उसके सुनिश्चित अभ्यास-सिद्ध प्राण-धारण प्रणाली का यथार्थ निर्विघ्न [illegible] है। यहीं यौवन के साथ उसका प्रचण्ड अन्तर है। देश के, समाज के, जाति के परिचालन का दायित्व जब तक इन वृद्ध के हाथ में रहेगा, बन्धन की ग्रन्थि में गाँठ के बाद गाँठ पड़ती ही जायगी, वे खुलेंगी ही नहीं। किन्तु

यौवन-कार्य इसके विपरीत है। इसीलिए जिस दिन से मैंने सुन लिया कि स्कूल-कालेज के छात्रगण राजनीति को, जो राजनीति केवल पालिटिकल नहीं है, जो राजनीति स्वदेश के मुक्तियज्ञ में मंत्र की तरह है, धर्म की तरह है, ग्रहण करने के लिए कटिबद्ध हो गये हैं, और वे इस कुसंस्कार के हाथ से मुक्त हो चुके हैं कि यह चीज उनके छात्र-जीवन के प्रतिकूल है—उसी दिन मुझे यह विश्वास हो गया कि अब सचमुच ही हमारी दुर्गति का मोचन हो जायगा। छात्र और देश के युवक-सम्प्रदाय से मेरा हार्दिक निवेदन है कि वे किसी की बात से, किसी भी प्रलोभन द्वारा इस संकल्प से विच्युत न हों।

इस सम्बन्ध में बहुत से मनीषि व्यक्तियों ने बहुत उपदेश दिये हैं। तुम लोग यह करो, यही तुम लोगों को करना चाहिये, यही आचरण प्रशस्त है, स्वार्थ-त्याग चाहिये, हृदय में स्वदेश-प्रेम जाग्रत कर देना आवश्यक है, जातिभेद मिटाना होगा, छूआछूत छोड़ देना पड़ेगा, खद्दर पहिनना होगा—ऐसे ही अनेक आवश्यकीय और मूल्यवान आदेश और उपदेश हैं। यही है प्रोग्राम। फिर अन्य प्रकार के उपदेश तथा भिन्न प्रोग्राम भी हैं। आप ही लोगों की तरह देश के बहुत से छात्र और युवक मुझसे पूछते हैं—हम लोग क्या करें? आप बता दीजिये। उत्तर में मैं कहता हूँ—प्रोग्राम तो मैं दे नहीं सकता। मैं केवल तुम लोगों को यही कह सकता हूँ कि तुम लोग 'सत्याश्रयी' बनो। वे प्रश्न करते हैं, इस क्षेत्र में सत्य क्या है? विभिन्न मतामत और प्रोग्राम तो हम लोगों को उद्‌भ्रान्त कर देते हैं। उत्तर में मैं कहता हूँ, सत्य की किसी शाश्वत संज्ञा की जानकारी मुझे नहीं है। देशकाल और पात्र के सम्बन्ध में, सम्बन्ध के द्वारा ही सत्य की जाँच होती है। देशकाल के पारस्परिक सम्बन्ध का सत्य ज्ञान ही सत्य का स्वरूप है। एक के परिवर्तन के साथ अपर का परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इस परिवर्तन को बुद्धि

के माध्यम से मान लेना ही सत्य को जानना है। जैसे प्राचीनकाल में राजा ही भगवान् के प्रतिनिधि माने जाते थे, देश के लोगों में यही मान्यता थी। इसको मैं असत्य कहना नहीं चाहता। उस प्राचीन युग में शायद यही सत्य था। किन्तु आज ज्ञान और पारिपार्श्विक परिवर्तन के फल से यदि यह बात भ्रान्त प्रमाणित हो जाती है, तो भी किसी पुराने दिनों की युक्ति और उक्ति मात्र का अवलम्ब लेकर इसको ही सत्य कहकर यदि कोई तर्क करने लगता है, तो उसको और जो कुछ भी क्यों न कहूँ, किन्तु 'सत्याश्रयी' तो नहीं ही कहूँगा। किन्तु केवल इसको मान लेना ही सब कुछ नहीं है। वस्तुतः एक दूसरी तरफ से कोई भी सार्थकता इसकी नहीं है—यदि चिन्ता से, वचनों से, व्यवहारों से जीवन यात्रा के पग-पग पर यह सत्य विकसित न हो उठे। अपनी भूलें जान लेना अच्छी बात है, किन्तु भीतर की जानकारी और बाहर के आचरण में यदि सामञ्जस्य न रहे—अर्थात् यदि हम कहते हैं कुछ और करते हैं कुछ—तो उस हालत में जीवन की इतनी बड़ी व्यर्थता, इतनी बड़ी भीरुता और दूसरी कोई नहीं हो सकती। यौवन-धर्म को इतना छोटा बना देने वाली दूसरी कोई भी बात नहीं है। छूआछूत, जातिभेद, खद्दर पहनना, राष्ट्रीय शिक्षा, देश के काम—ये सब सत्य हैं या असत्य, भले हैं या बुरे आदि की आलोचना मैं न करूँगा। इसका सत्यासत्य समझा देने वाले मुझसे योग्यतर व्यक्ति आप लोग बहुत पायेंगे। किन्तु मैं केवल यही निवेदन करूँगा कि आप लोग जैसा समझते हैं, उस समझ के साथ साथ कार्य में एक रूपता लाइये। मैं समझता हूँ, छूआछूत, आचार-विचार का अर्थ नहीं है, तो भी मैं इन्हें मानकर चलता हूँ। मैं समझता हूँ कि जातिभेद अकल्याणकर है, तो भी अपने आचरणों से उसे मैं प्रकट नहीं करता। समझता हूँ और कहता हूँ, विधवा विवाह उचित है, तो भी अपने जीवन में उसका विरोध करता हूँ। जानता हूँ कि खद्दर पहनना उचित है, तो भी विलायती कपड़ा पहनता हूँ, इसे

ही मैं असत्याचरण कहता हूँ। देश की दुर्गति की जड़ में यही महापाप है जो हमें कितना नीचे खींच लाया है, इसकी कल्पना तक भी शायद हम नहीं करते। यही हालत है सब तरफ। उदाहरण देकर समय बिताने की जरूरत नहीं है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि, दीनता और का-पुरुषता के इस गहरे कीचड़ से देश का यौवन मुक्ति प्राप्त करे। गलत समझते हुए गलत काम करने से अज्ञता का अपराध होता है। वह भी बहुत अच्छा है। किन्तु ठीक समझ कर बे-ठीक काम करने में केवल सत्य-निष्ठता में नहीं, असत्य निष्ठा में बाधा पड़ती है। उसके प्रायश्चित्त का दिन जब आता है, तब समूचे देश की शक्ति से वह पूरा नहीं पड़ता। यह बात याद रखनी पड़ेगी कि सत्य निष्ठा ही शक्ति है, सत्यनिष्ठा ही सभी कल्याणों का आगार है। इसीलिए बारम्बार स्वदेश के यौवन के सामने मैं यह निवेदन करता हूँ, कि सत्यनिष्ठा ही उनका व्रत होवे। क्योंकि मैं निश्चित रूप से जानता हूँ, कि यह व्रतधारण ही उनके सामने की सभी बाधाओं को हटाकर यथार्थ कल्याण का पथ उद्घाटित कर देगा। प्रोग्राम और पथ के लिए दुश्चिन्ता न करनी पड़ेगी।

आज की कार्यक्रम-तालिका का एक विषय है लाठी, तलवार और छुरेबाजी का खेल। अब तक शारीरिक व्यायाम की तरफ से छात्र समाज एकदम विमुख हो गया था। मालूम होता है, वही मानो धीरे-धीरे वापस आ रहा है। मैं सर्वान्तःकरण से इस प्रत्यागमन का अभिनन्दन करता हूँ। तुमलोगों ने देखा है जो लोग दुर्बल और शक्तिहीन हैं, लात की चोट से केवल उनकी ही प्लीहा फट जाती है। शक्तिशाली पठान-काबु-लियों की नहीं फटती। प्लीहा फटती है बङ्गालियों की। शायद बारम्बार इस धिक्कार से ही शारीरिक शक्ति अर्जन की इच्छा लौट आयी हो। शारीरिक व्यायाम से शक्ति बढ़ती है, आत्म-रक्षा का कौशल अपने

आयत्त में आ जाता है, साहस बढ़ता है। फिर भी यह बात भूल जाने से काम न चलेगा कि यह सब ही देह का कारोबार है। इसलिए यही दोनों सब कुछ नहीं हैं। साहस बढ़ाना और निर्भीकता अर्जन करना किसी तरह भी एक चीज नहीं है। एक है दैहिक और दूसरी है मानसिक। देह की शक्ति और कौशल वृद्धि से अपेक्षाकृत दुर्बल साधना से शक्तिमान को परास्त किया जाता है—संसार में कोई उसको बाधा नहीं दे सकता। वह अपराजेय बन जाता है। इसीलिए प्रारम्भ में मैं एक बार जो बात कह चुका हूँ, उसकी ही पुनरावृत्ति करके फिर कह रहा हूँ कि यह अभय-आश्रम उसी साधना में नियुक्त है। आश्रम-वासियों की कृच्छ्र साधना उसका ही एक सोपान है, एक उपाय है। यह उनका पथ है, अन्तिम लक्ष्य नहीं। अभाव, दुःख, क्लेश, पड़ोसी की लांछना, मित्रों की गर्जना, प्रबलों का उत्पीड़न, कुछ भी इनकी मुक्ति के मार्ग को बाधा-ग्रस्त न कर सके—यही इन लोगों की एकान्त प्रतिज्ञा है। यही तो निर्भयता की साधना है, और इसीलिए सत्यनिष्ठा ही इनके गन्तव्य मार्ग को निरन्तर आलोकित करती आ रही है। खद्दर का प्रचार करना, राष्ट्रीय विद्यालय खोलना, अस्पताल खोलना, आर्तों की सेवा करना, ये सब अच्छे हैं या बुरे, नर्भीकता और देश की स्वाधीनता अर्जन करने में ये सब काम की बातें हैं या नहीं, ये सब प्रश्न निरर्थक हैं। इनकी सत्यनिष्ठा यदि कल इनके लिए अन्य पथ-निर्देश करती है, तो इन आयोजनों को अपने हाथों से तोड़ देने में अभय आश्रमवासियों को एक पल भी देर न लगेगी—यही मेरा विश्वास है। और मैं यही कामना करता हूँ कि मेरा यह विश्वास सच हो।

मेरी अवस्था बहुत हो गयी, केवल यहाँ आकर मैंने बहुत कुछ ही सीख लिया। इस अभय-आश्रम में अतिथि हो सकने का सौभाग्य मुझे अन्तिम दिन तक याद रहेगा।

अन्त में मैं छात्रों और युवक सङ्घ को आशीर्वाद देता हूँ। इनकी तरह सत्यनिष्ठा उनके भी जीवन का ध्रुव तारा हो।

आप लोग मेरा कृतज्ञतापूर्ण आन्तरिक आशीर्वाद ग्रहण कीजिये।

रंगून की दिनचर्या

प्रमथ, तुमने मेरे सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा प्रकट की है—संक्षेप में मैं कुछ बता रहा हूँ—

१—शहर के बाहरी भाग में, एक छोटे से मकान में, नदी के किनारे मैं रहता हूँ। यह मकान मैदान में स्थित है।

२—नौकरी करता हूँ। मासिक वेतन ९०) मिलता है; ऊपर से १०) भत्ते के रूप में पाता हूँ। एक छोटी सी दूकान भी है। दिन भर का पाप क्षय हो जाता है, किसी तरह काम चल जाता है। और कुछ नहीं। सम्बल कुछ भी नहीं है।

[शरत्बाबू ने एक चाय की दूकान अपने मकान के पास ही खोल दी थी। एक मित्र ने एक दिन पूछा—तब तो शरत्बाबू, आपको नौकरी

+ अपने मित्र श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य के पास एक पत्र भेजकर शरत् बाबू ने रंगून की दिनचर्या पर प्रकाश डाला था।

छोड़ देनी चाहिए ? दूकान पर खुद न बैठियेगा तो दूकान टूट जायगी। शरत् बाबू ने कहा—नहीं जी, खुद बैठने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जानते हो मैंने कैसा बन्दोबस्त कर रक्खा है ? एक टिन दूध में कितनी चीनी डाली जाती है, उससे कितनी चाय तैयार होगी, यह सब मैंने ठीक समझ लिया है। सवेरे दूध का टिन खरीद देता हूँ। सारा दिन कितना दूध खर्च हुआ, इसका हिसाब सन्ध्या को समझ लेने से ही पैसा पकड़ में आ जाता है।]

३—हृद्-रोग का शिकार हूँ। किसी भी क्षण यह....

४— मैं बहुत अधिक पढ़ चुका हूँ। प्रायः कुछ भी अभी नहीं लिखा है। विगत दस वर्षों में शरीर विज्ञान, आध्यात्म विज्ञान, जीव विज्ञान और कुछ-कुछ इतिहास मैं पढ़ चुका हूँ, शास्त्रों का भी कुछ-कुछ अध्ययन मैंने किया है।

[रंगून में नौकरी करते समय शरत्चन्द्र प्रधानतः "बर्नर्ड फ्री लाइब्रेरी" से ही पुस्तकें लेकर पढ़ते थे। इस सम्बन्ध में गिरीन्द्रनाथ सरकार ने लिखा है...मैंने देखा है, रंगून की बर्नर्ड फ्री लाइब्रेरी से समाजनीति, राजनीति और दर्शन सम्बन्धी अनेक अंग्रेजी के मोटे-मोटे ग्रन्थ संग्रह कर वे मनोयोग पूर्वक पढ़ते रहते थे। शरत्चन्द्र के मामा और बालमित्र श्री उपेन्द्रनाथ गङ्गोपाध्याय के मतानुसार १९०३ ई० के जनवरी मास में शरत्चन्द्र रंगून गये थे।]

५—आग लग जाने से मेरा सब कुछ ही जल चुका है। लाइब्रेरी, 'चरित्रहीन' उपन्यास की पाण्डु लिपि और "नारी का इतिहास" जो प्रायः ४००-५०० पन्ने तक लिख चुका था, वह भी नष्ट हो गया। इच्छा तो यही थी कि जैसे भी हो इनमें से किसी एक को इसी साल प्रकाशित कराता। मेरे द्वारा कुछ हो सके, शायद ऐसा होन-हार नहीं है, इसीलिए यह सब जल गया है। फिर शुरू करूँ, ऐसा

उत्साह नहीं मिलता ! "चरित्रहीन" ५०० पन्नों में प्रायः शेष हुआ था—सब समाप्त हो गया !

[रंगून में साधारणतः लकड़ी के ही मकान हैं। शरत् बाबू जिस मकान में रहते थे, उसके पास के मकान में आग लग गयी थी, उसी आग की लपट से उनका भी मकान जल गया था। इस गृहदाह से उनका बहुत सामान नष्ट हो गया था।]

वे लोग समझते हैं कि मैं उन्हीं लोगों की तरह हीन, नीच एवं व्यवसायी किस्म का साहित्यसेवी हूँ।...यही न ? प्रमथ, अधिक गर्व करना ठीक नहीं है, मैं क्या हूँ, इसकी जानकारी मुझे है। मैं जिस किसी भी पत्रिका को चाहूँ तो आश्रय देकर उसे ऊँचा उठा सकता हूँ—यदि यह उक्ति तुमको असत्य जान पड़े, तो अधिक दिन नहीं—एक वर्ष देख लो—उसके बाद तुम कहोगे, शरत् केवल ठाट ही नहीं दिखाता था। जाने दो यह सब तो हमारी आपसी बातें हैं, इसको लेकर किसी को कुछ भी हानि लाभ नहीं है—किन्तु यदि तुम्हारा उन लोगों के ऊपर थोड़ा सा भी प्रभाव हो, और यदि मैं तुम्हारा शत्रु न होऊँ तो, यह सब झूठी बातें जिससे न फैल सकें, वही काम तुम करो। मैं गद्य के गद्य लिख भी नहीं सकता—लिखने पर भी छपवाने के लिए किसी भले आदमी के पास चिट्ठी लिख-लिखकर उसे तंग भी नहीं करना चाहता।

× × × +

प्रमथ, मैं 'यमुना' के प्रति प्रेमभाव रखता हूँ, यह बात तुमसे छिपा नहीं है, तो भी, इसी भय से कि तुम कहीं कुछ और न सोच बैठो, इसी लिये पहले मैंने तुम्हारे ही पास चरित्रहीन भेज दिया है। (तुम भला-बुरा क्या कहोगे, क्या न कहोगे, यह भी एक बात है) यदि मैं ऐसा न

करता तो तुम्हारे दल के लोगों के मन में यह भाव उठता कि मैं, तुमको बहुत प्यार नहीं करता। किन्तु मैं प्यार करता हूँ, इसी को प्रमाणित करने के लिए यह भेजना हुआ है। तुम पढ़ोगे और विचार करोगे। हानि नहीं है, तो भी तुम्हारा मान रह जायगा, और मेरे ऊपर तुम्हारा मान रह जायगा, और मेरे ऊपर तुम्हारा जो जोर है, यह बात भी जान ली जायगी। तुम्हारी चिट्ठी पाकर मैं फणीपाल को लिखूँगा। वह तुम्हारे पास से उसे ले आयगा।

मैं एक और बात कहना चाहता हूँ, प्रमथ, रुपये का गर्व तुम्हारे दल के लोगों के मन में जितना ही कम रहे उतना ही अच्छा है। रुपये से सभी खरीदे नहीं जा सकते। अच्छा और ईमानदार बनना जरूरी है।...

× × + ×

तुमको मैं एक परामर्श देना चाहता हूँ। तुमने शायद भार लिया है* इसीलिए कहता हूँ, नहीं तो मैं न कहता। यदि धारावाहिक उपन्यास निकालना हो, तो साधु-सन्यासी—जप-तप, कुल-कुण्डलिनी का समावेश उसमें रहे, ऐसी ही चेष्टा करना। उससे बाजार में बहुत ही नाम हो जायगा। और यह भी ख्याल रखना कि अन्तिम भाग में दो चार झटपट मर ही जायँ (एक विष खा सोने की घटना रहनी ही चाहिये!) अथवा, कहीं से सब लोग हठात् आकर एक ही स्थान में मिल जायँ। ऐसा हो जाने से लोग बहुत ही तारीफ करेंगे। और नयी पत्रिका निकालने पर इन सब उपन्यासों का बड़ा आदर होता है।

---

* 'भारतवर्ष' मासिक-पत्र के सञ्चालकों में एक प्रमथ बाबू भी थे।

यदि मुझे भी तुम अनुमति दे देते, तो मैं चरित्रहीन के बदले वैसी ही एक परम सुन्दर चीज अतिशीघ्र लिख सकता। जो तुमको ठीक जान पड़े, लिखना। मैं उसके ही अनुसार रचना शुरू कर दूँगा, यदि मुझे हुकुम देना चाहते हो तो। तुम लोगों के क्लब की बात सुनकर मुझे खूब आनन्द मिलता है। क्लब कैसा चल रहा है, कभी-कभी लिखकर मुझे बताते रहना। खुद भी कुछ करना अच्छा होगा—हुल्लड़ में इस बात को भूल जाना उचित नहीं। तुम्हारा जैसा स्वभाव है, उससे तुम इतने बहु-संख्यक लोगों के साथ घनिष्ठ रूप से परिचित हो जाओगे, यह कोई विचित्र बात नहीं है।

हमारी जो 'सहित्य सभा' पहले थी उसकी एकमात्र सदस्या 'निरुपमा देवी' ने ही साहित्य-चर्चा जारी रक्खी है—और शेष सभी ने छोड़ दिया है—यही बात है न?

[ऊपर जिस क्लब की चर्चा हुई है, उसका नाम था 'इवनिङ्ग क्लब'। शरत्‌चन्द्र बाल्यकाल में जब भागलपुर में अपने मामा के यहाँ रहते थे, तब उन्होंने कुछ आत्मीय-स्वजनों और इष्ट-मित्रों को लेकर एक साहित्य सभा गठित की थी। शरत्‌चन्द्र स्वयं ही इस साहित्य-सभा के सभापति थे। गुरुजनों से छिपाकर किसी एक निर्जन स्थान में इस साहित्य-सभा का अधिवेशन होता था। सप्ताह में एक दिन बैठक होती थी। सदस्य और सभासदों के लिखे गल्प और उनकी रचित कविताओं का पाठ होता था। इन गल्प-कविताओं पर शरत्‌चन्द्र स्वयं भी विचार प्रकट करते थे, और गुणागुण के अनुसार प्रत्येक गल्प-कविता पर नम्बर देते थे। साहित्य-सभा की एकमात्र सदस्या थीं निरुपमा देवी। ये सभा के अनन्यतम सदस्य विभूतिभूषण भट्ट की कनिष्ठा पुत्री थीं। उस समय निरुपमा देवी बाल-विधवा थीं। वे सभा में भाग नहीं लेती थीं। वे अन्तःपुर में रहती थीं और बड़े भैया विभूतिभूषण भट्ट के हाथ से ही अपनी रचनाएँ भेज देती थीं।]

पहले की लिखी हुई मेरी एक भी पुस्तक मेरे पास नहीं है—कहाँ है, है या नहीं, यह कुछ भी मैं नहीं जानता—जान लेने की इच्छा भी मुझे नहीं होती।

एक और समाचार देना बाकी रह गया है। तीन वर्ष पूर्व जब हृद् रोग का प्रथम लक्षण प्रकट हुआ था, तब मैंने पढ़ना छोड़कर तैल-चित्र बनाना शुरू कर दिया था। विगत तीन वर्षों में बहुत से तैल-चित्र संगृहीत हुए थे। वे सभी भस्मसात् हो चुके हैं। केवल चित्राङ्कन के सामान बच गये हैं।

अब मुझे क्या करना चाहिये, यदि इसपर तुम मुझे कुछ बता सकते तो मैं तुम्हारे कथनानुसार कुछ दिनों तक चेष्टा करके देखता।

× × ×

तुम जबतक मेरी रचनाओं को नहीं पढ़ते, तबतक मानो वे अपूर्ण ही रह जाती हैं। यह शायद मेरे बाल्यकाल का ही अभ्यास है। इसी कारण तुम्हारे पास 'यमुना' के पहुँचाने की व्यवस्था मुझे स्वयं ही करनी पड़ी है। तुम तो मेरा स्वभाव जानते ही हो। जो लोग स्वजन हैं, वे मुझे ठीक रूप में जान सकें, किन्तु जो पराये हैं, वे मुझे कुछ भी न जानें, यही मेरी स्वाभाविक व्याधि है—इसीलिए तुम्हारे पास 'यमुना' पहुँचती रहती है और इसीलिए तुम्हारे पास 'चरित्रहीन' मैंने भेज दिया है। आशा है, अबतक तुम उसे प्राप्त कर चुके होगे। पता नहीं, क्यों मेरे मन में एक प्रकार का भय उत्पन्न हो गया है। यह पुस्तक तुमको अच्छी लगी है ऐसा कहने का साहस शायद तुमको न होगा। यह बुद्धिपूर्वक देखने से एकदम निर्दोष न होने पर भी निहायत निम्नश्रेणी की पुस्तक नहीं है—किन्तु रुचि का प्रसंग उठाने पर, आलोचना में इसमें कुछ अधिक दोष हैं। फिर भी, सब समझकर भी मैंने इसमें से एक भी

वाक्य निकाला नहीं है। आगे भी न निकालूँगा। छोड़ो इन बातों को। तुमको पढ़ने के लिए दिया है, अपना सत्य विचार प्रकट कर इसे वापस कर दोगे, यही आशा है और यही है मेरा अनुरोध। काश, तुम-लोग इसपर प्रकाश डालते—ईश्वर से मेरी यही आन्तरिक प्रार्थना है। क्योंकि, तब उस हालत में तुम अपने को असत्य स्थिति में शायद न पा सको, तुम सहज भाव से ही कह सकोगे—यह पुस्तक मुझे अच्छी नहीं लगी। एक बार मैंने सोचा था कि तुम लोगों की पत्रिका के लिए, छोटी-छोटी कहानियाँ अपनी शक्ति के अनुसार लिख भेजा करूँ—क्योंकि तुम इस पत्रिका के मङ्गलाकांक्षी हो किन्तु हठात् इस आशा को भी मैंने अब छोड़ दिया। इसके साथ मैंने जो चिट्ठी भेजी है (फणीबाबू को—यमुना के सम्पादक को) उसी से तुम सब कुछ समझ जाओगे। और हरिदास बाबू के अपने ही लोगों ने जब इसी बीच मेरे नाम से—इतनी झूठी बातें मेरे ही मित्रों के सामने कही हैं, तब भविष्य में (यदि तुम्हारे साथ मैं सम्बन्ध रखूँ) तो और भी कितनी झूठी निन्दाएँ फैलती रहेंगी, यह तो तुम समझ ही रहे हो। मेरी निन्दा होने से मुझे जो कष्ट होगा, उससे कहीं अधिक दुःख तुमको होगा, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। किन्तु पीछे कहीं हरिदास के प्रति तुम्हारा स्नेह, तुमको मेरे प्रति अन्धा न बना दे, इसीलिए इतनी बातें मैंने लिख दी हैं—नहीं तो केवल फणी की चिट्ठी ही भेजकर तुम्हारी सत्-बुद्धि एवं विवेचना-शक्ति पर निर्भर करके ही मैं चुप रह जाता। जिस कार्य को मैं सबसे अधिक घृणा करता हूँ (बड़े आदमियों की निर्लज्ज खुशामद) क्या वही बात प्रकारान्तर से मेरे भाग्य में तो नहीं बदा है? क्या मैं तुमलोगों के साथ साहित्यिक सम्बन्ध रक्खूँ? तुमलोग रुपया दोगे, तुमलोगों का प्रभाव छोटे साहित्यिकों में प्रचुर है—किन्तु मैं छोटा साहित्यसेवी भी नहीं हूँ, और रुपये का भिखारी भी नहीं हूँ। केवल एक तुम्हारे सिवा और तुम्हारे प्रेम के अतिरिक्त और कौन मुझे खरीद सकता है? फिर मुझे खरीदने

के लिये उतना रुपया कलकत्ता शहर में कहाँ ! तुम्हारे मामूली से मुहल्ले की क्या बिसात ! कितना दुःख होता है बताओ तो ! हरिदास बाबू के मैनेजर—सु—को मैं पहचानता हूँ—मेरे सम्बन्ध में इतनी झूठी बातें फैलाने में उसको जरा भी संकोच नहीं हुआ है। लाल स्याही से छपे हुए दो चार तन्त्र-मन्त्र भेज दो। यहाँ इनकी विशेष जरूरत पड़ेगी। ये सब इस देश में नहीं मिलते। और यह भी लिख भेजना कि कितने (दो या चार) साधु-फकीरों की जरूरत होगी। नायिका अपनी सतीत्व-रक्षा के लिए किस ढङ्ग की वीरता दिखायेगी उसका भी कुछ आभास दे देने से अच्छा ही होगा। और षट्-चक्रभेद की आवश्यकता है या नहीं, यह भी लिख भेजना।

× × ×

प्रमथ, मैंने मजाक किया है। इसलिए नराज मत हो जाना। केवल मजाक से किसी के ऊपर किसी तरह की आंच नहीं आती, यह बात तुम निश्चित जान लेना। तुमसे जरा मजाक इसलिए कर लिया कि तुमने बिना देखे ही 'चरित्रहीन' के लिए महा हंगामा मचा दिया था। मैंने तुमको बहुत दिन पहले ही लिख दिया था कि यह 'चरित्रहीन' षट्-चक्रभेद नहीं है। यह केवल आचार नीति और मानस दर्शन है। यह धर्म नहीं है। जो भी हो, तुम अपने दल के भीतर मेरा पक्ष समर्थन करते सहम जाओगे, इसी बात से मुझे भारी दुःख है। यदि कोई भी तुमसे इस सम्बन्ध में कुछ कहे, तो तुम यह कहकर जबाब देना कि शरत् लिखना नहीं जानता। यद्यपि ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु इसमें उसका कुछ उद्देश्य है। वह सम्पूर्ण [illegible] में प्रकट नहीं हो रहा है। (शरत् चन्द्र ने प्रमथ बाबू के पास चरित्रहीन की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि न भेज कर उसका कुछ अंश ही भेजा था।) मैं उपन्यास

तैयार कर सकता हूँ, इसका कुछ नमूना तो तुम बाल्यकाल में भी पा चुके हो, सम्प्रति भी शायद पा ही गये हो। यही कहकर जवाबदेही पेश कर देना मेरी तरफ से। मैं भविष्य में तुम लोगों के मन के लायक एक नावेल लिख दूँगा, तुम निश्चिन्त रहो। एक बात और है—अनिन्दिता देवी मेरी बहन हैं—मैं नहीं हूँ। तुम कैसे जान गये कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। तुमने यह बात क्यों द्विजू बाबू से कह दी? तुमने यह अच्छा नहीं किया। मैंने तो तुमसे कभी भी नहीं कहा कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दो कानों से चार कानों तक, यह बात (जो झूठी है) प्रकट होकर चारो ओर फैल सकती है। ऐसा होने से भारी लज्जा की बात होगी। क्योंकि अनेक तीखी आलोचनाएँ करने की बात बहन जी बता चुकी हैं। ठाकुरबाड़ी के विरुद्ध वे समालोचना करेंगी. ऐसा उन्होंने मेरे पास पत्र लिखकर सूचित किया है। वे बता देंगी कि कितने स्थानों में उन लोगों ने कितनी भूलें की हैं। मैं समझता हूँ कि वह आलोचना बहुत ही महत्वपूर्ण होगी। सुनता हूँ कि ठाकुरबाड़ी के प्रायः सभी लोग केवल नाम के जोर से ही, जो भी मन आता है, वही लिखते रहते हैं। सम्प्रति झतेन्दु बाबू की एक समालोचना बहन जी ने लिखी हैं।

फाल्गुन के 'साहित्य में' कान काटा का इतिहास [कैनाइट] शीर्षक देकर उन्होंने आलोचना लिखी है।

इस तरह मिथ्या समाचार देकर कोई सिर ऊँचा उठाकर कैसे लिखता जैसा कि बहन जी ने लिखा है, यह विषय उनको कहीं भी किसी अंग्रेजी या बँगला पुस्तकों में नहीं मिला है। मैं समझता हूँ कि उनका अध्ययन है। इस अवस्था में यदि लोग यह समझने लगें कि एक सामान्य क्लर्क और उपन्यास लेखक ने सब गम्भीर समालोचानाएँ की हैं, तो वह देखने-सुनने में अच्छा न मालूम होगा। इसके सिवा बहन जी को भी

इससे दुःख मालूम हो सकता है। यदि तुमसे हो सके तो इस बात को उलट देना। (यहाँ शरत् चन्द्र ने आत्मगोपन की चेष्टा की है।)

× × × ×

तुमसे मैं एक बात और पूछना चाहता हूँ। भागलपुर में और यहां भी, यह मतभेद उपस्थित होता रहता है कि 'रामेर सुमति' की अपेक्षा "पथ-निर्देश" ज्यादा अच्छा है। द्विजू बाबू को मेरा प्रणाम कहकर पूछ लेना कि इन दोनो पुस्तकों में कौन अधिक अच्छी है। उनकी ही बात निर्णीत मानी जायगी और मतभेद भी दूर हो जायगा। 'भारतवर्ष' तुम्हारी अपनी ही पत्रिका की तरह हो चुकी है। अतः इस विषय में मैं अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक परिपालन करूँगा। इस विषय में मन की बात कह देना अनावश्यक है। किन्तु बात यह है कि मेरे पास समय बहुत कम है। रात के समय मैं लिख नहीं सकता, सबेरे दो घंटे लिख पाता हूँ, वह भी प्रतिदिन नहीं हो पाता। तुमसे मेरा एक और निवेदन है। मेरी 'यमुना' पर तुम जरा स्नेह बनाये रखना। 'भारतवर्ष' जैसे तुम्हारा पत्र है, यमुना भी उसी तरह मेरी पत्रिका है। उसकी कुछ क्षति न हो, उसकी श्री वृद्धि होती रहे, इसपर जरा ख्याल रखना भाई। यह ठीक है कि, मैं फणी के प्रति स्नेह भाव रखता हूँ, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि तुम्हारा असम्मान या तुम्हारी उपेक्षा करता हूँ। इसीलिए मैं तुम्हारे पास चरित्रहीन भेज भी रहा हूँ। यद्यपि इसे भेजने के बारे में बहुत-सी बातें हो चुकी हैं, और आगे भी होंगी, लेकिन यह सब कुछ मैंने जानबूझकर किया है। जो भी हो, जब तुम लोगों को वह पसन्द न हो, तो उसे मेरे पास वापिस भेज देना। विज्ञापन में जैसा दिया गया है, उसी प्रकार वह 'यमुना' में छपता रहेगा। तुमने कहा है कि एकदम पुस्तकाकार छपा देना ही ठीक होगा। यह सच है,

किन्तु बात इस हद तक आगे बढ़ चुकी है, कि अब अपने स्वार्थ के लिए फणी को उसे न देने से काम अच्छा नहीं होगा, लज्जास्पद भी हो जायगा। तुमने जो बात लिखी है, उसे मैं भी जानता था। मुझे मालूम था कि वह पुस्तक तुम लोगों को पसन्द न होगी, और यही बात मैंने पूर्व पत्र में लिख भेजी थी। किन्तु इस सम्बन्ध में मुझे केवल इतना ही और कहना है कि जो लेखक जान-सुनकर भी 'मेस की नौकरानी' को प्रारम्भ में ही खींचकर सामने लाने का साहस करता है, वह जान-सुनकर ही ऐसा करता होगा। तुम लोगों ने उसको (सावित्री) को उसका अन्तिम स्वरूप न जानते हुए भी मेस की दासी के रूप में ही देखा। प्रमथ, हीरा को काँच समझने की भूल तुमने कर डाली है भाई। अनेक विशेषज्ञ उस पुस्तक को पढ़कर मुग्ध हो गये थे। तुमने उसका उपसंहार जान लेना चाहा है। तो सुनो, यह एक नैतिक विचार धारा का समस्यामूलक-उपन्यास है। अन्य किसी ने इस रूप में कभी बंगला में ऐसा लिखा है, यह मैं नहीं जानता। इसी से तुम डर गये भाई? काउण्ट टालस्टाय की 'रेजरेक्शन' पुस्तक तुमने पढ़ी है? यह प्रसिद्ध पुस्तक एक साधारण वेश्या को लेकर लिखी गयी है। किन्तु हमारे देश में इतना आर्ट समझने का समय नहीं आया है, यह बात सच है। जो भी हो, जब वह बात नहीं हुई, तब उस बात को लेकर आलोचना करना व्यर्थ है। और मेरा भी कोई मत नहीं था। तुम लोगों का वह पत्र अभी नया है। उसमें साहस का परिचय न देना ही सङ्गत है। किन्तु मुझे भी कोई अन्य उपाय नहीं है। मैं उमङ्ग कहकर आर्ट से घृणा नहीं कर सकता, किन्तु जिससे यह घोर नैतिकतापूर्ण हो जाय, वही उपाय करूँगा। मेरे पास रजिस्ट्री करके भेज देना, फणी को देने की आवश्यकता नहीं। तुम लोगों को प्रथम अङ्क के लिए मैं क्या भेजूँ भाई? तुम कैसी रचना चाहते हो, जरा लिख भेजते तो अच्छा होता। मैं यथासाध्य चेष्टा करूँगा। हाँ, एक बात और है—इसके पहले यदि कोई मुझे जरा सावधान कर देता

अर्थात् कह देता कि,—नौकरानी को लेकर शुरू करना अच्छा नहीं हुआ है, तो सम्भव है, मैं किसी भिन्न मार्ग से चलने की चेष्टा करता। किन्तु किसी ने मुझसे कुछ कहा तक नहीं। अब तो बहुत विलम्ब हो गया है। 'पाषाण' क्या अच्छी तरह याद नहीं है। अपने पास भी वह नहीं है। इसके सिवा वह बाल्यकाल की रचना है। बिना देखे, बिना संशोधन किये किसी तरह भी उसका प्रकाशन नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से शायद उसकी हालत 'काशीनाथ' की ही तरह हो जायगी। मेरा 'चन्द्रनाथ' गल्प तुमको याद है ? उसको भी अब सम्पूर्ण नवीन साँचे में ढाल देना पड़ा है। वह यमुना में निकल रहा है। वह समाप्त हो जायगा, तो चरित्रहीन निकलेगा। यही विचार सबने स्थिर किया है। सभापति महाशय को देने की बात थी, और इसके लिए उन्होंने पत्रादि भी मेरे पास लिख भेजे थे, किन्तु फणी की पत्रिका तो मेरी पत्रिका है न।

तुम फणी के ऊपर क्रोध मत करना। वह अच्छा आदमी है। किन्तु वह कैसे जानेगा कि तुम्हारे साथ मेरा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है और हम २० वर्षों के घनिष्ठ सूत्रों में आबद्ध हैं। लोग समझते हैं कि, हम परस्पर मित्र हैं। किन्तु मित्रता किनमें है, वह मित्रता कैसी है, इस बात को वह बेचारा कैसे जानेगा ? तुम्हारी और मेरी बात, तुम्हारे और मेरे सिवा और तो कोई जानता नहीं है। यदि किसी दिन इस विषय पर उसके साथ तुम्हारी बातचीत हो, तो तुम उससे यह कह देना कि बाहरी लोगों को मैं क्या बताऊँ कि शरत् मेरा क्या है, और मैं शरत् का क्या हूँ ! वरन् न जानना ही अच्छा है। तुमने मुझे जो कुछ लिखा है, उसके बारे में कुछ सोच-विचार करने के बाद उसका जवाब दूँगा। तुम भी जरा जल्दी जवाब देना।

× × × ×

तुमने लिखा है कि विधवा के बिना यह छोटा उपन्यास ठीक नहीं लगता (मजाक है क्या ?) शायद तुम्हारी यह बात सच ही हो। महान लेखक बंकिम बाबू भी अपने दोनों सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों (कृष्णकान्तेर विल, विषवृक्ष) में इस विषय को नहीं छोड़ सके। तुमने मेरे 'पथनिर्देश' के ही विषय में कहा था। मैं समझ गया हूँ, वह पुस्तक तुमको अच्छी नहीं लगी। यदि यही बात सच हो, तो मेरा उपदेश यह है, और उपन्यास गल्प आदि लिखने की चेष्टा तो निश्चय ही न करोगे, तब तो पढ़ना भी उचित न होगा ? कोई-कोई चित्रकार जैसे कलर-ब्लाइन्ड होते हैं, वैसे ही तुम भी हो। 'रामेर सुमति' में आर्ट कम होने पर भी यदि वही तुमको अच्छी लगी है, और उसकी तुलना में उसके बाद की चीजें कुछ भी महत्व नहीं रखतीं तो उस हालत में मैं सचमुच ही निरुपाय हूँ। यह केवल मेरा मत नहीं है, इस पर तुम विश्वास करो। यह प्रायः सबका ही मत है, इसके अतिरिक्त मेरे प्रति यदि तुम्हारे मन में कुछ भी श्रद्धा हो तो उस हालत में मैं स्वयं भी यही बात कहूँगा। परिश्रम के विचार से, रुचि के विचार से, आर्ट के विचार से 'पथ निर्देश' के सामने 'रामेर सुमति' का स्थान निम्न है। वह बहुत नीचे है। एक सम्पूर्ण गृहस्थ चरित्र लिखने का निश्चय करके 'रामेर सुमति' की तरह लिखना चाहता हूँ। इस प्रकार हिन्दू गृहस्थ-परिवार में जितने प्रकार के सम्बन्धों के अवलम्ब से एक-एक गल्प लिखकर मैं इस पुस्तक को समाप्त करूँगा। यह पुस्तक केवल स्त्रियों के ही लिए होगी। चरित्रहीन रजिस्ट्री से वापस भेज देना। इस सम्बन्ध में अहिंग टालस्टाय का रिजरेक्शन (पुनर्जन्म) नामक पुस्तक तुम पढ़ लेना। अङ्ग विशेष को खोलकर लोगों को स्पष्ट दिखा देना ठीक नहीं होता, यह मैं जानता हूँ, किन्तु यह मैं नहीं जानता कि जितने भी क्षत स्थान हैं, उनको न दिखाना चाहिये। डाक्टर की उपमा यहाँ ठीक नहीं लगती। यदि समाज का कोई डाक्टर रहे, जिसका काम क्षत-चिकित्सा करना हो, तो वह कौन है, बता तो

दो। जो जगह सड़ जाती है उसको रुई से बाँधकर ढँक रखने से वह दूसरों के लिए देखने में भले ही अच्छी लगे, किन्तु जिसके शरीर में वह क्षत रहता है, उसके लिए वह कोई बहुत सुविधा-जनक नहीं। केवल सौन्दर्य-सृष्टि करने के अतिरिक्त भी उपन्यास लेखक के जिम्मे और भी बड़े-बड़े काम हैं। वह यदि समाज के क्षत-विक्षत स्थानों को देखना ही चाहे—तो कोई बुरा नहीं। ऑस्टिन, मेरी-करेली आदि ने और सारा ग्रान्ड ने समाज के अनेक क्षतों का उद्घाटन किया है, आरोग्य करने के लिए, लोगों को केवल दिखाकर, डराकर, आमोद-प्रमोद करने के लिए नहीं। इसके सिवा तुम यह कैसे समझ गये कि मैं केवल बाह्य रूप बना रहा हूँ? अवश्य ही बदनामी होगी, इसका नमूना मुझे मिल रहा है। किन्तु तुम तो जानते ही हो, भय से चुप हो जाने का स्वभाव मेरा नहीं है। तुम कहते हो प्रमथ, लोग निन्दा करेंगे, शायद यही बात हो, किन्तु इस 'चरित्रहीन' के अवलम्ब से 'यमुना' की कैसी उन्नति होगी या न होगी, यह भी देखना अवश्य है। यह खयाल मत करना कि, जो छोटा है, वह किसी प्रकार कभी भी बड़ा हो ही नहीं सकता। छोटा भी बड़ा होता है और बड़ा भी छोटा हो जाता है। छोड़ो इस बात को। उपन्यास लिखकर मैं तुम लोगों का मनोरञ्जन कर सकूँगा, यह आशा आज मैं पूर्ण रूप से छोड़ देता हूँ। तुम लोगों के पत्र के लिए कैसा गल्प ठीक होगा, यह समझ सकना ही मेरे लिए कठिन है।...

बहुत चेष्टा करके भी, और सर्वान्तःकरण से इच्छा करने पर भी तुम्हारी पत्रिका के लिए कुछ करने का साहस मुझे नहीं हो रहा है। वास्तव में मैं तुमलोगों के किसी काम आ सकूँ, तो इससे बढ़कर सौभाग्य की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है, किन्तु मेरा काम तो तुमलोगों के लिए, बेकाम हो जायगा। किन्तु मैं एक बात कहता हूँ भाई, शायद

मत होना—तुम्हारा विचार इतना संकीर्ण कैसे हो गया, यही बात मैं केवल सोच रहा हूँ। तुमने 'नारी का मूल्य' की कितनी प्रशंसा की है किन्तु ज्येष्ठ मास की यमुना पढ़कर तुम मेरी कितनी निन्दा करोगे, यही मैं सोच रहा हूँ।

× × ×

एक बात और है। 'चोखेरबालि' की निन्दा इसलिए हो रही है कि विनोदिनी घर की बहू है। उसके बारे में इतना अधिक लिखना ठीक नहीं हुआ है। इससे मानो मकान के भीतर की पवित्रता पर आघात पहुँचा है।...मैंने तो अब तक किसी की पवित्रता पर आघात नहीं किया है। पीछे मैं क्या करूँगा, यह मैं नहीं जानता।...तुमको सहायता करने की मेरी प्रबल इच्छा थी, किन्तु अब मुझे साहस नहीं रहा। 'विधवा' के बिना गल्प ठीक नहीं बनता, और यही है तुमलोगों का अभावसूचक सिद्धान्त तब तो मेरे लिए अब कोई उपाय ही नहीं है। तुमलोगों को भी मैं एक साधारण-सा उपदेश देना चाहता हूँ, इच्छा हो तो मान लेना, न हो तो मत मानना। अपने पालतू लेखकों को फरमाइश देकर यदि तुम लोग लिखवाते रहे, पग-पग पर फीता लेकर नाप-जोख करते रहे तो सारा लिखना ही चौपट हो जायगा। वह पत्रिका अन्ततः असफल हो जायगी। जो लोग सुलेखक हैं, और जिनको यथार्थ रूप में ही कवि मानते हो, उनकी समालोचना करो, किन्तु उनकी रचनाओं को भी प्रकाशित करो। लोगों को भला-बुरा दोनों ही कहने का सुयोग दो—गालियाँ दो, किन्तु प्रकाशित होने के मार्ग में बाधक मत बनो। पादरियों का भजन या गिर्जाघर की प्रार्थना ही यदि पत्रिका को बना दोगे तो वह कितने दिन टिक सकेगी? मैंने बहुत सी बातें लिख दीं। किन्तु अब भय हो रहा है, कि कहीं तुम यह न सोच बैठो कि मैंने जो कुछ लिखा है, वह क्रोध में लिख गया है; यह सब कुछ भी

नहीं, तुमने जो मुझे सरल भाव से लिखा है, इससे मैं सचमुच ही कृतज्ञ हूँ। इससे मैं यही समझने लगा हूँ कि, जो मित्र नहीं हैं, वे क्या कहेंगे। अवश्य ही पुस्तक को अनैतिक कह देने से, कुछ दुःख तो मुझे अवश्य ही हुआ है। किन्तु उपाय ही क्या है ? भिन्न रुचिर्हिलोकः। 'पथनिर्देश' उपन्यास भी जब अनैतिक जान पड़ा है (क्योंकि तुमने लिखा है—'यह मजाक है' किन्तु कौन मजाक है इसे समझ लेना कठिन है) तब तो 'चरित्रहीन' अवश्य ही झंडा लगाकर अनैतिक बनाया गया है। इसे भी छोड़ो। तुम्हारा समाचार क्या है ? खूब ही व्यस्त हो गये हो क्या ? वास्तव में मासिक पत्र चलाना कठिन काम है। लेखक कौन कौन हैं ?

\+ + + +

मुझे स्मरण है, 'बङ्ग दर्शन' में जिस समय 'चोखेरबालि' और 'नौका डूबी' निकलने लगा, तब लोग बङ्ग दर्शन की ताक में बराबर रहा करते थे। उसके आने के साथ ही आपस में छीना-झपटी होने लगती थी। तुम लोग यदि कुछ करो तो, ऐसी ही सफलता मिलने लगे। क्योंकि, तुमलोगों के पास साधन काफी हैं—हाथ में बहुत से कार्यकर्ता हैं। और सबसे अधिक (रुपया) भी है।

—:o:—

युवक सङ्घ के प्रसङ्ग में

उत्तरी बङ्गाल के रङ्गपुर शहर से मैं यह लिख रहा हूँ। तुमलोग शायद जानते हो, बङ्गदेश में युवक-समिति नाम का एक संघ सङ्गठित हुआ है। सम्भवतः तुम लोग अभी इसके सदस्य नहीं बने हो, किन्तु एक दिन यह समिति तुमलोगों के हाथ में आ ही जायगी। तुम्हीं लोग इसके उत्तराधिकारी हो। इस कारण, इसके सम्बन्ध में मैं तुम्हें दो-चार बातें बता देना चाहता हूँ। इस समिति का वार्षिक सम्मेलन कल समाप्त हो गया। मैं बूढ़ा आदमी हूँ, तो भी लड़के-लड़कियों ने मुझे ही नेतृत्व करने का आमंत्रण देकर बुलाया। उन लोगों ने मेरी अवस्था पर विचार नहीं किया। इसका कारण, शायद यही है कि, वे मानो किसी तरह समझ गये हैं कि, मैं उन्हें पहचानता हूँ। उनकी आशा और आकांक्षा-विषयक बातों से मेरा परिचय है। मैं उनका निमन्त्रण ग्रहण कर आनन्द के साथ दौड़ आया केवल यही बात बता देने के लिए कि, उनपर ही देश की भलाई-बुराई निर्भर करती है। इस सत्य को वे अपने सर्वान्तःकरण से समझ लें, यही मैं चाहता हूँ, फिर भी, इस परम सत्य को समझ लेने के मार्ग में उनके लिए कितनी ही विघ्न-बाधायें हैं। उनकी दृष्टि से इसे ढँक रखने के लिए कितने ही आवरण निर्मित हो चुके हैं। और तुमलोगों की—जिनकी अवस्था और कम है, उनकी बाधाओं का तो अन्त ही नहीं है। जो लोग बाधा पहुँचाते हैं, वे कहते हैं कि, सभी सत्यों को जान लेने का अधिकार सभी को नहीं है। यह युक्ति बहुत ही जटिल है और केवल नहीं कहकर इसे पूर्ण रूप से उड़ा देना सम्भव नहीं है। हाँ कहकर भी पूर्णतः मान लेना सम्भव नहीं। और इसी जगह उनका जोर है। किन्तु इस रीति से इस वस्तु की मीमांसा नहीं होती। हुई भी नहीं है। सभी देशों में, सर्वकाल में, एक प्रश्न के बाद दूसरे प्रश्न आते रहे हैं—अधिकार भेदानुसार तर्क उपस्थित हुए हैं।...

तुम लोग भी इसी तरह अपनी जन्मभूमि के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों और ज्ञान से वञ्चित रक्खे गये हो। सत्य समाचार पा जाने से तुम लोगों का मन विक्षिप्त न हो जाय, स्कूल कालेजों की पढ़ाई में, परीक्षा पास करने में व्यवधान न पड़ जाय, इस आशंका से मिथ्या द्वारा भी तुम लोगों की दृष्टि अवरुद्ध की जाती है। इस बात को शायद तुम लोग जान भी नहीं सकते।

युवक समिति के सम्मेलन में मैंने यही बात सबसे अधिक जोर देकर कहने की इच्छा की थी। मैंने यही कहना चाहा था कि अपने देश को विदेशी शासन से मुक्त करने के उद्देश्य से ही संघ का सङ्गठन हुआ है। स्कूल-कालेज के छात्रों को अधिकार है कि छात्रावस्था में भी वे देश के कार्यों में भाग लें, देश की स्वाधीनता-पराधीनता के सम्बन्ध में विचार करते रहें, और इस अधिकार की बात को भी मुक्त-कण्ठ से घोषित कर देने का उन्हें अधिकार है।

देश की पुकार सुनने से वयःक्रम किसी को रोक नहीं सकता। तुम लोगों जैसे किशोरवयस्कों को भी नहीं।

परीक्षा पास करना जरूरी है।—यह बात उससे भी अधिक जरूरी है। लड़कपन में इस सत्य-चिन्तन से अपने को पृथक् कर रखने से जिस नुकसानी का आरम्भ होने लगता है, फिर उम्र अधिक हो जाने पर भी उस घाटे को पूरा नहीं किया जा सकता। इसी उम्र में सीखना ही सबसे बड़ी शिक्षा है। यह तो एकदम रक्त के साथ मिल जाती है।

अपने विषय में भी देख रहा हूँ, बाल्यावस्था में माँ की गोद में बैठकर मैंने जो कुछ सीखा था, आज इस वृद्धावस्था में भी वह पूर्ववत् अक्षुण्ण बना हुआ है।

तुम लोग अपने विषय में भी ऐसा ही विचार रक्खो। यह मत

सोच रखना कि आज अवहेलनावश जिस तरफ तुम लोगों ने दृष्टि नहीं डाली, उसे तुम किसी दूसरे दिन बड़े हो जाने पर अपनी इच्छा के अनुसार ही देख सकोगे। शायद ऐसा न देख सको। सम्भवतः हजार चेष्टा करने से भी वह वस्तु तुम्हारी दृष्टि से पृथक ही छिपी पड़ी रहेगी। जो शिक्षा परम श्रेय है, उसे इस किशोरावस्था में ही रक्त के बीच से बहाकर ग्रहण करना ठीक होता है। ऐसा करने से ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है।...

—:❋:—

लाहौर में भाषण *

वास्तव में इतनी दूर आकर मैंने यह नहीं समझा था, कि आप लोगों से मुलाकात हो जायगी। मेरे एक मित्र यहाँ प्रोफेसर थे। उनका नाम था अक्षयकुमार सरकार। उनके मुँह से मैं सुना करता था कि यहाँ ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनका सम्बन्ध बङ्गदेश से बहुत ही कम रहता है—वे लोग एकदम प्रवासी हो गये हैं। इतनी दूर रहकर बंगदेश के साथ सम्पर्क रखना कठिन है। तो भी, आप लोग बंगदेश के साथ परिचय रखते हैं, यह मैं स्पष्ट ही देख रहा हूँ।

देखिये, आप लोगों ने जो अभी सारी बातें कही हैं, उनमें अनेक तो अतिरञ्जित हैं। साहित्य के विषय में अवश्य ही मैंने कुछ काम किया है, किन्तु जो कुछ भी किया है, उसमें चोरी, जालसाजी

* लाहौर प्रवासी बङ्गालियों के अभिनन्दन के उत्तर में।

या धोखाधड़ी नहीं है । मनुष्यों से वाहवाही पाने की नीयत से मैंने कुछ भी नहीं किया है । मैं क्लर्क था । अब तिरपन वर्ष की उम्र हो चुकी है । पुस्तक लेखन के ही सहारे मेरा परिचय बहुत लोगों से हुआ है । जब पहले-पहल मैंने लिखना शुरू किया, तब तो गाली-गलौज की बाढ़ ही आ गयी । जब मैंने 'चरित्रहीन' लिखा, तब पाँच-छः वर्षों तक गालियों की कोई सीमा ही नहीं थी । किन्तु मेरे मन में यह विश्वास बराबर बँधा रहा कि मैंने सत्य वस्तु को ही पकड़ा है ।

सत्य और साहित्य पृथक होते हैं । सत्य साहित्य की जड़ है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है । सत्य की ओर गमन करने से, और जो कुछ भी हो, अच्छा साहित्य नहीं बनता । इस विषय में मैंने दूसरों का पदानुसरण नहीं किया है । इसी से आप लोगों का स्नेह मैं पा गया । यही मेरे लिए बड़े आनन्द की बात है ।

मैं एकदम खड़े रहकर कुछ बोल नहीं सकता । शोर-गुल मुझे बहुत अच्छा नहीं लगता । मैं भाषण नहीं कर सकता । मैं बहुत बार कह चुका हूँ, तुम लोग मुझे भाषण करने के लिए मत बुलाओ । जो कौतूहल तुम लोगों के मन में उठा है, उसके ही विषय में मुझसे पूछो । देखिये, आप लोगों में से कुछ लोगों ने कुछ पूछा—मैंने भी कुछ कहा—परस्पर आदान-प्रदान हुआ—इसी बात को मैं महत्वपूर्ण समझता हूँ ।

मुझे आप लोग बँगला के ग्रन्थकार के रूप में प्यार करते हैं, यह आप लोगों ने बताया है । यही भाव मैं अपने साथ लेता जाऊँगा । राजनीति के व्यापार में उलझ गया हूँ, इसलिए वही मेरे लिए सब कुछ नहीं है । मेरी शक्ति-सामर्थ्य इसी तरफ से चलती है—इसी साहित्य

की तरफ से। अपने साथियों से मैंने कहा था—यहाँ कुछ-कुछ साहित्य की आलोचना होती तो मैं उसमें ही अपने मन की तृप्ति पा जाता। अकस्मात् आप लोगों के द्वारा यहाँ से ही मैं उसे पा गया। वास्तव में मैंने अपने को कृतार्थ मान लिया है। जो बंगाली यहाँ रहते हैं, वे मुझे भूल नहीं गये हैं. विभिन्न कामों में रहने से लोग बंगदेश में जा नहीं सकते, तो भी बंगदेश के साथ उनका परिचय है—उन लोगों को मेरा आन्तरिक धन्यवाद।

मैंने बँगला भाषा को विविध भावों के बीच से देखा है, इसे आप लोग भी देख पाते हैं। भगवान् से प्रार्थना करता हूँ—सचमुच ही प्रार्थना कीजिये, कि इतनी बड़ी भाषा को—जिसको रवीन्द्रनाथ ने इतनी बड़ी बना दिया है, उसको और भी बड़ी बनाने में सफलता मिले। बहुत ज्यादा उमर हो जाने के बाद मैंने लिखना शुरू किया था। फिर भी बहुत-सी पुस्तकें लिख डाली हैं। गालियाँ भी काफी सुन चुका हूँ। उनमें कुछ तत्व है, इसका प्रमाण आज आप लोगों ने दिया।

संसार के सभी लोग आज स्वीकार कर रहे हैं कि भाषा की दृष्टि से हम किसी तरह भी छोटे नहीं हैं। पहले जो लोग बंगला नहीं पढ़ते थे, वे भी आज बँगला पढ़ते हैं। यह भाषा आज कितनी बड़ी हो गयी है, इसकी क्या कोई तुलना है।.......

मेरी अवस्था भी हो चुकी है, अब और कितने दिन चलोगे ही। किन्तु जो कुछ भी रह गया, वह जमा हो रहा है। उसे ही बराबर बढ़ा करने की चेष्टा होनी चाहिये।

हम स्वाधीन नहीं हैं, इसके लिए हम अवश्य लज्जित रहते हैं। अपनी आँखों से हम देखते रहते हैं, गृहस्थ, भले लोग किस दुर्दशा में रह रहे हैं। समाज में जितने भी कुकर्म हैं, उन्हें हम चाहें तो छोड़ सकते हैं। विवाह के ही विषय में उदाहरण ले लीजिये। इस विषय में

ही कितनी करुण घटनाएँ होती रही हैं। उनमें से एक-एक का वर्णन करने लगें तो बहुत कुछ कहने की जरूरत पड़ जायगी। उन्हें कहने से सिर नीचे झुक जाता है। फिर भी, हमारे पास एक चीज है, जिस पर गर्व अनुभव कर सकते हैं, हमारी भाषा कितनी विराट है, कितनी गौरवमयी है। आँखें बन्द करके मैं यही अनुभव करता हूँ।

मैंने एक पुस्तक 'पथेर दावी' नाम की लिखी थी। वह सरकार द्वारा जब्त कर ली गयी। उसका साहित्यिक मूल्य क्या है, क्या नहीं है इस पर उसने विचार नहीं किया। कहीं पर दो-चार सच बातें लिख दी थीं, उन्हीं पर उसकी नजर पड़ी।

समाज की यह दशा है कि, लोगों में परस्पर मेल-जोल नहीं है, एक ही मकान के रहने वालों में प्रेम नहीं है। मन के प्रत्येक भाव को आप ही संयत रखना पड़ता है, अन्य जातियों में ये सब बातें नहीं है। जीवन के आनन्द आदि के विषय में वे कितने स्वाधीन हैं। शायद उनमें उच्छृङ्खलता है, किन्तु उससे दाग नहीं पड़ता। हमलोग झगड़ा करके बहुत कुछ कह सकते हैं, यह ठीक है, किन्तु उनलोगों ने जीवन को बड़ा बना दिया है। साहित्य के भीतर से वे लोग उन सबको प्रकाशित कर रहे हैं। उनके पास सेना है, जल-सेना है, उनके पास खर्च है—इस तरह के कितने ही साधनों से उनकी स्वाधीनता व्यक्त होती है। अपने समाज में हम उसे भद्दे रूप में देख सकते हैं। हमारी साहित्यिक नीति पृथक है। सभी बातों में स्वाधीनता व्यक्त नहीं होती। कुछ बाधाएँ तो बाहर से आ पड़ी हैं, कुछ अपनी ही बनायी हुई हैं। जो लोग साहित्य निर्माण करते हैं, उनको मैं दोष नहीं दे सकता। मुझसे ही कितनी गड़बड़ियाँ हुई हैं। किन्तु भगवान की इच्छा से आज मैं समझने लगा हूँ, कि स्वाधीनता ही हमारी काम्य वस्तु है।...देश का साहित्य स्वाधीनता

के बीच से ही चारों तरफ फैलता जायगा। उच्छृङ्खलता इत्यादि बाधाएँ आ सकती हैं। जो बात होगी ही, आशा करता हूँ कि वह अवश्य हो। तभी साहित्य प्रकाण्ड हो सकेगा। जो लोग मुझसे कम उम्र के हैं, वे यदि इसे करना चाहते हों तो उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी तरफ स्वाधीनता रहने से, इसको बड़ा नहीं बनाया जा सकता।

गर्व करने योग्य केवल एक ही चीज हमारे पास है— वह है हमारी भाषा। यह दुर्बल न होने पावे इस पर ध्यान रखना होगा। मैं अनेक स्थानों में यही कहता हूँ, ऐसा न होने पावे। जरा धैर्य के साथ जो नीति-बन्धन है उसके ही बीच से साहित्य-प्रचार होता रहे। किसी बात के कारण, किसी तरह की अवहेलना से यह चीज छोटी न बन जाय।... किसी भी जाति का जागरण भाषा के ही बीच से करना पड़ता है। जिसकी भाषा दुर्बल है उसके उत्थान की सम्भावना नहीं। जाति विशेष की उन्नति के साथ-साथ, उसके साहित्य का भी उन्नति होती देखी गयी है। आपलोग केवल इसी पर ध्यान रखें कि भाषा उत्तरोत्तर उन्नति-पथ पर अग्रसर होती रहे। तब आपलोग देखियेगा, सब कुछ ही चमक उठेगा।...

वास्तव में मैं बहुत ही कृतार्थ हो गया। आपका माल्य प्रदान मेरे अतीव सौभाग्य की बात है। इससे अधिक सम्मान मैं नहीं चाहता— चाहने से होता भी क्या है। यही माला मेरे लिए बहुत बड़ी चीज है। इसे ही साथ लिये जाता हूँ।

बङ्किम-शरत् समिति में भाषण

बालकों ने जब मुझसे कहा कि वर्ष के अन्त में आपसे मिलकर हम आनन्द पाते हैं; तो भी देश के इस दुर्दिन में व्यक्तिगत सम्मान से मैं कुंठित तो हो जाता हूँ। बालकों के प्रेम को अस्वीकार न कर सकने पर मैंने कहा—मैं आऊँगा, किन्तु अधिक आयोजन मत करना। सभापति महाशय ने कहा है, कि ५५ वर्ष की अवस्था में नौकरी-जीवन में, मुक्ति का स्वाद मिलता है। मेरे जीवन में शक्ति का विशेष क्षय हो गया है, ऐसा तो मुझे नहीं मालूम होता। किन्तु ऐसा कुसमय आ पड़ा है कि, कुछ भी नयी चीज देना अनिश्चित है। कुछ भी जोर देकर नहीं कहा जा सकता। काल के गर्भ में जो कुछ है, वही होगा। मुझे आशा है कि यह दुर्दिन न रहेगा। यदि मैं जीवित रहा और अन्धकार दूर हुआ, तो मैं बालकों का क्षोभ अवश्य ही दूर कर सकूँगा। किन्तु आज मैं कुछ ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। व्यक्तिगत सम्मान का दिन यह नहीं है। यह आनन्द का समय नहीं है। मन की इस चञ्चल अवस्था में कुछ विशेष कहना भी सुसंगत न होगा। यह समय उपयुक्त नहीं है। अपने पुराने मित्रों को मैं धन्यवाद देता हूँ उनकी शुभाकांक्षा के लिए। बालकों से मैं यही कहता हूँ कि मन में क्षोभ न रक्खें। देश के विषय में कोई बात नये रूप में कहने की है नहीं। किन्तु देश की बात मन में लाने से व्यथा को दबाना असम्भव हो जाता है। मैं अपने मन की बात पीछे सुनाऊँगा। बालकों से कहता हूँ कि उनकी साहित्य-चर्चा अक्षुण्ण बनी रहे। न बोल सकने से मुझे कितना कष्ट हो रहा है, इसे तुम लोग स्वयं समझ सकते हो।

चन्दन नगर की गोष्ठी

यहाँ आने की इच्छा मुझे बहुत दिनों से थी। तरह-तरह के कामों के झमेले में पड़े रहने तथा अस्वस्थ होने के कारण आने में बराबर रुकावट पड़ती रही। भाषण करने की कला मैं नहीं जानता। उस बार भी जब मैं यहाँ आया था, तब भी मैंने कुछ भाषण नहीं किया। बहुत-सी सभा-समितियों में मेरा आना-जाना जरूर होता रहता है, किन्तु मामूली तौर से दो-चार बातें भी मुझसे नहीं कहते बनती। उस बार किसी के साथ विशेष वार्तालाप नहीं हुआ, परिचय भी नहीं हुआ। इसीलिए फिर कभी आकर बातचीत करने की इच्छा थी। और वह जाकर आज पूरी हो रही है।

मेरी व्यक्तिगत अभिज्ञता मेरी रचनाओं में, मेरे साहित्य में निहित है। इसलिए साहित्य-विषयक प्रश्नों का उत्तर मैं दे सकता हूँ। जो लोग साहित्यिक हैं, जिनकी रुचि साहित्य में है, वे मेरी रचनाओं के सम्बन्ध में पूछ सकते हैं। मैं यथासाध्य उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। फिर भी, सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकूँगा, इसमें तो सन्देह ही है।

बचपन में मैं एक बार यहाँ आया था। उन दिनों का खूब धुँधला-सा स्मरण आज भी बना हुआ है। उस समय मेरी अवस्था चार या पाँच वर्ष की रही होगी। रोडाई चण्डी मण्डप के पास एक मञ्जिला मकान था, उसके पास एक पोखरी थी। वह मकान कुण्डू जी का था—इसी तरह की दो-चार बातों के अतिरिक्त मुझे और कुछ भी शायद याद नहीं है। दादी जी घर से नाराज होकर यहाँ आ गयी थीं। मैं उनके साथ ही यहाँ आया था। यह बात बहुत दिनों पहले की बात है। अब तो मेरी उम्र ५५ वर्ष की हो चुकी है। प्रायः पचास वर्ष पहले की बात

है। इस तरह से आप लोगों के साथ मेरी एक आत्मीयता रहनी चाहिये।

(तदनन्तर श्री वसन्तकुमार बंद्योपाध्याय ने अनुरोध किया—आप अपने वंश परिचय और साहित्यिक जीवन पर कुछ सुनाइये। इस पर शरत बाबू ने कहा—)

सुनकर दुःख ही मालूम होगा। वंश का कोई भी गौरव मैं नहीं रखता।...जिन लोगों ने बड़े परिश्रम से हमारे प्राचीन इतिहास को ढूँढ निकाला है, वे कहा करते हैं—यह देखो, हमारे पास ये सब गुण थे, वे सब गुण थे। उनकी ऐसी बातों से मैं खुश नहीं होता और न मेरी छाती ही फूल उठती है। मैं कहता हूँ, हमारे पास कुछ भी नहीं था। इसके लिए दुःख मानने की कोई बात नहीं है। अपने जीवन का परिचय मैं नहीं देता, दो हजार वर्ष पहले हमारे पास क्या था, क्या नहीं था—पत्थर मिट्टी खोदकर यह सब बाहर निकालने की जरूरत नहीं। मैं यही कहता हूँ कि, पुरानी बातों को लेकर गौरवान्वित होने से काम नहीं चलेगा। नयी गौरवगाथा तैयार करो। जाति के सम्बन्ध में भी यही बात है—जाति भले ही न रहे, इससे कोई हानि नहीं होगी। कितने ऐसे लड़के दिखाई पड़ते हैं, जिनके वंश परिचय का कोई आधार नहीं है। वे अपने ही जोर से बड़े हुए हैं, सफल हुए हैं। मेरे भी साथ यही बात सच हुयी है। मेरे मन की भी भावनायें ऐसी ही हैं। 'शेष प्रश्न' में भी मैंने इसी सम्बन्ध में आलोचना की है। जो कुछ वर्तमान में होता जा रहा है, उसी पर ज्यादातर कटाक्ष है—आक्रमण है, मोती बाबू शायद बहुत ही नाराज हो जायँगे—वह पुस्तक अभी पूरी नहीं हुई है—शायद दो-चार दिनों में पूरी हो जायगी। पूरी हो जाने पर उसे पढ़कर वे शायद नाराज न होंगे।

धर्म के सम्बन्ध में हमारा वंश एक बात के लिये प्रसिद्ध है। हमारे

वंश में आठ पीढ़ियों से एक-एक गृहत्यागी, साधु-संन्यासी होते आये हैं। मेरे मझले भाई साधु हैं। मेरे नाना जी बड़े ही कट्टर हिन्दू थे। मैं भी खूब...यहाँ तक कि चार-पाँच बार साधु बनकर घूमता-फिरता रहा हूँ। अच्छे-अच्छे साधु बाबा लोग जो काम करते रहते हैं—अर्थात् गाँजा पीना आदि—वह सब मैं अनेक बार कर चुका हूँ। अब तो स्थिति एकदम विपरीत है। इस धर्म को लेकर चलने का जो एक सीधा मार्ग पकड़ लिया जाता है—जैसा कि मोती बाबू कहते हैं—वे जिस लाइन से चल रहे हैं—शायद इस सम्बन्ध में कहना शोभा न देगा। मेरा ऐसा रास्ता बिलकुल ही नहीं है।

मोतीबाबू की पुस्तकें मैं खूब पढ़ता हूँ। जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसे मैंने खूब मन लगाकर पढ़ डाला है। इस देश को वे पुनः पुराने धर्म के ऊपर खड़ा कर देना चाहते हैं। नयी जाति का संगठन करना चाहते हैं, किन्तु उनका आधार है धर्म—भगवद्भक्ति—यही सब। शास्त्रों में अनेक साधनाओं का उल्लेख है—दुर्भाग्यवश मेरा मन विपरीत दिशा में चल पड़ा है। साधना का कोई भी मूल्य मुझे नहीं दिखाई पड़ता। शास्त्रसाधना—जो भी रही हो—किन्तु यदि वह बड़ी ही थी, तो आज हम इतने छोटे कैसे हो गये? विभिन्न व्यक्ति विभिन्न बातें कहेंगे। आँखों के सामने देख रहा हूँ, बहुत सी जातियाँ हैं, जिनमें आत्म-सम्मान का बोध बहुत ही अधिक है—वे अपना परिचय स्वाधीन कहकर इस संसार में दे रही हैं। हम इतने बड़े हैं, तो भी, एक बार पठानों, एक बार मुगलों, एक बार अँग्रेजों के जूतों के नीचे अधम बने ही रहे हैं। आखिर हमारी ऐसी दशा क्यों है?—इसका कोई उत्तर हम नहीं दे सकते। हम कहते हैं—हमारा आध्यात्मिक जीवन महानतर है। किन्तु बाहर के लोग इस बात पर विश्वास नहीं करते। मन ही मन वे हँसते हैं या नहीं—मैं नहीं जानता। यदि हम वास्तव में इतने ही बड़े हैं, तो फिर छोटे क्यों बनते जा रहे हैं? हमारे

देश की आज जो दुर्दशा हो रही है, इसका क्या कारण है? मेरा विचार है, कि हममें कोई भयङ्कर त्रुटि वर्तमान है। त्रुटियाँ ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल रही हैं। क्रमशः हम दिनो दिन नीचे ही गिरते चले जा रहे हैं। मेरी पुस्तक पूरी हो जायगी, तो उसमें देख लीजियेगा, मैंने इन सब मतों की विस्तृत आलोचना की है। पाँच आदमियों को बुलाकर मैंने पूछा भी है—बता दीजिये—इन हजार वर्षों से हमारी ऐसी दुर्दशा क्यों होती चली आयी है? यह बात किस तरह सम्भव हुयी है। यदि कोई इसका उचित उत्तर दे सके, तो वह देश का महान उपकार करेगा। मुझे कोई उपाय भी इसके लिए स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता। हम अपनी शक्ति को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। विश्वास कुछ भी नहीं है। यदि यही बड़ी चीज हो, तो आशा ही क्या है? आप लोग ही बता दें, हम में कौन सी त्रुटि है? मोतीबाबू से भी पूछता हूँ, इस आलोचना-सभा में वे बता दें—किस स्थान में त्रुटि विद्यमान है—जिसके कारण हम इतनी बड़ी सजा भुगत रहे हैं। मैंने भी अपने मन में सोच लिया है कि, अब राजनीति में न रहूँगा। पहले भी कभी इससे मेरा अधिक सम्बन्ध नहीं था। मैं इसी लाइन को पकड़ूँगा—ध्वंस करने का काम लूँगा। सभी चीजों को छोटे रूप में देखूँगा। किसी वक्त हम बहुत बड़े थे, किन्तु फल हमारे पास कुछ भी नहीं है। इसके लिए दुःख भी नहीं है। बड़े बनो—जिस राह से और भी दस आदमी बड़े बन चुके हैं, हमारे साथ उनका मेल नहीं बैठता—वे ही बड़े हैं—सिर्फ यही बात कह देने से थोड़े ही काम चलेगा—हम जो कुछ कहते हैं, उसे हम करते नहीं।....मैं तो इसी पथ को पकड़ूँगा। हमारे पास कुछ भी नहीं था, जो हजार वर्ष पहले हमारे पास जो कुछ था, उसके लिए हम गर्व न करेंगे। जिनके पास था, उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है—रक्त का भी सम्बन्ध नहीं रहा। धर्म का भी सम्बन्ध नहीं रहा।—केवल एक देश में हम रहते हैं, बस इतनी सी बात है।

उनके साथ हमारा कभी सम्पर्क रहा, किन्तु उस सम्बन्ध को हम देख नहीं पाते। यदि कोई समझा सके—यह बात ऐसी ही है, तब तो बात ही भिन्न है। नहीं तो यही विचार उठ सकता है, कि मेरी रचनाओं को पढ़ने से हानि हो सकती है। तेरह-चौदह वर्ष पहले बहुतों के मन में यही विचार उठ खड़ा हुआ था, कि मैंने साहित्य को नष्ट कर दिया। यहाँ तक कि, बड़े-बड़े लोगों के भी मन में ऐसी धारणा उत्पन्न हो गयी थी कि, मैंने जो कुछ लिखना आरम्भ किया है, उससे सब कुछ ही ध्वंस हो जायगा। अब लोगों का वह मत नहीं रहा। अब तो बहुत से लोग कहते हैं—'आपने यह अच्छा मार्ग अवलम्बन किया है—आपकी बात हम मान लेंगे।' मैंने जो बात कही, उसका प्रतिवाद उठेगा, यह मैं जानता हूँ। मैंने स्पष्ट ही कहा है, कुछ भी छिपाया नहीं। यदि आप लोग कहें—यह मार्ग ठीक नहीं है—क्यों नहीं है, यदि ऐसा दिखा सकें, तो उस हालत में मैं पुनः विचार करूँगा। मोती बाबू से भी मैं यही बात कहता हूँ। असल बात यह है कि, मैं संस्कार का समर्थक नहीं हूँ। मैं पुरानी चीज का रूप बदल कर उसे स्वीकार करना नहीं चाहता। 'पथेर दावी' में मैंने समझा दिया है—संस्कार का अर्थ क्या होता है। वह कोई अच्छी चीज नहीं है। जो चीज खराब है, बहुत दिनों के व्यवहार से सड़ चुकी है, उसकी मरम्मत करके फिर उसे तैयार कर देना संस्कार है, जैसे गवर्नमेण्ट का शासन-संस्कार। परन्तु एक दल दूसरा भी है, जिसके सदस्य क्रान्ति चाहते हैं—क्रान्ति का अर्थ है आमूल परिवर्तन। बूढ़ों का दल यह नहीं चाहता। वह चाहता है संस्कार अर्थात् नवनिर्माण। मैं तो यही समझता हूँ कि, नवनिर्माण करने से ही कोई चीज अच्छी नहीं हो जाती, ऐसा करने से जो वस्तु है, उसी की परमायु बढ़ा देना है। असावधानी करने से जो शायद आप ही ध्वंस हो जाती—उसको ही दृढ़ बनाकर फिर खड़ाकर देना शासन-संस्कार होता है। जो चीज

खराब हो चुकी है, मरम्मत करके फिर उसे उपस्थित करना उचित नहीं।

मोती बाबू ने भी यही सोच रक्खा है कि, हम अपने धर्म की त्रुटियों का संस्कार करें, मरम्मत करके फिर अच्छे रूप में उसे व्यवहार में लावें मेरा कथन यह है कि, मरम्मत की कोई जरूरत ही नहीं है—इसे छोड़ ही दो, ऐसा करने की आवश्यकता ही क्या है? छः सात सौ वर्ष की पुरानी चीज को यदि फिर उपस्थित कर दोगे, तो वह एक हजार वर्ष तक चलेगी। अच्छा मोती बाबू ही बता दें कि, इस सम्बन्ध में उनका कैसा विचार है।

\+ × × ×

मोती बाबू ने जो कुछ कहा है उससे मेरे प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता। मेरा वक्तव्य शायद उनकी समझ में नहीं आया। मैं तो यही बात कहना चाहता हूँ कि, आप मरम्मत करके उसी पुरानी चीज को लाना चाहते हैं—(यह अच्छा नहीं है?)...मैं कोई बहुत मूल्यवान उपदेश नहीं दे सकता। अहंकार और वासना से मुक्ति पाने की बात आपने कही है—उसकी आवश्यकता है। किन्तु अन्य जातियाँ—जो हमारे सिर पर पैर रखकर घूम रही हैं, वे जिस प्रकार बड़ी हो चुकी हैं, उसी प्रकार हमें भी बड़ा होना पड़ेगा।

(इस पर मोती बाबू ने कहा कि रोम वाले भी किसी वक्त सभ्य जाति के कहलाते थे, किन्तु उनकी उस सभ्यता का अब अस्तित्व कितनी मात्रा में रह गया है?—इसके उत्तर में शरत्‌बाबू ने कहा—)

देखिये, इस उत्तर से मुझे सान्त्वना नहीं मिलती। यदि हम उनकी तरह बड़े हो सकें, तो क्या हानि है?

(मोती बाबू ने कहा—इससे निश्चिन्त हो जाने की आशंका है, तब शरत्‌बाबू ने कहा—)

संसार की सभी जातियाँ अपने ही पैरों पर खड़ी हो रही हैं तथा क्रमशः बड़ी होती जा रही हैं, किन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि निरुपाय हैं। इस अवस्था में हम यह न सोचने लगेंगे, कि और ५०० वर्षों के बाद क्या होगा। रोम की तरह ध्वंस हो जाने पर भी इस समय यही विचार करना है कि, अब आगे कैसे उन्नति हो। मैं बहुत चिन्ता में पड़ गया हूँ। मैं राजनीति में शामिल हो गया था। अब उससे मैंने अवकाश ग्रहण कर लिया है। उस हंगामें में मुझे सुविधाएँ नहीं मिलीं। बहुत समय नष्ट हो गया, जो चला गया, चला ही गया। फिर भी कुछ अभिज्ञता तो हुई। अब मैं पुस्तक लिखने के अपने कार्य में ही लगा रहूँगा।

(साहित्य—जीवन के क्रमिक विकास के बारे में पूछे जाने पर शरत् बाबू ने कहा—)

साहित्य की मौलिक बात 'सहित' शब्द से सम्बन्ध रखती है—अर्थात् सबके साथ सहानुभूति की आवश्यकता है, यही असल बात है।

मैं कैसे साहित्य-जीवन में बढ़ता आया हूँ, इसकी जानकारी मुझे भी नहीं है। इतना ही जानता हूँ कि, बाल्यकाल से ही लिखने पढ़ने की तरफ मेरा झुकाव था। मन में एक वासना उत्पन्न होती रहती थी, कि बाहर जो तरह-तरह की अवस्थाएँ देख रहा हूँ, उनका क्या कोई एक रूप नहीं दिया जा सकता? अकस्मात् एक दिन मैंने लिखना शुरू कर दिया। प्रारम्भ में अवश्य ही इधर उधर से कुछ न कुछ चुराकर ही लिखता था। अभिज्ञता न रहने से कोई भी अच्छी रचना नहीं की जा सकती। अभिज्ञता प्राप्ति के लिए बहुत कुछ उद्योग, परिश्रम करने पड़ते हैं। अति भद्र-शान्त शिष्ट-जीवन भी रहे, और सभी अभिज्ञताएँ भी प्राप्त हो जायँ—यह नहीं हो सकता। मैं बता चुका हूँ, चाहे इच्छा से या अनिच्छा से

ही सही—मुझे भी चार-पाँच बार साधु बन जाना पड़ा था। अच्छे-अच्छे साधु लोग जैसा करते हैं, वह सब कुछ मैं भी करता रहा, गाँजा पीता था, मोहनभोग-मालपुआ कुछ भी नहीं मुझसे छूटा।...

बीस वर्ष इसी प्रकार बीत गये। इसी दौरान में कुछ पुस्तकें भी मैंने लिख डालीं। 'देवदास' उसी समय लिखा गया था, उसके बाद गान-वाद्य सीखने लगा। पाँच वर्ष उसी में बीत गये। उसके पश्चात् पेट की ज्वाला से विभिन्न स्थान में घूमता रहा। मेरी प्रचण्ड अभिज्ञता उसी भ्रमण से हुई। ऐसे बहुत से ही काम करने पड़ते थे, जिनको ठीक या उचित नहीं कह सकते। किन्तु यह मेरी सुकृति थी कि, उनमें ही मैं एकदम निमग्न नहीं हो गया। मैं देखता रहता था—सभी छोटी-बड़ी बातों को ढूँढ़ता फिरता था। अभिज्ञता जमती जाती थी। सभी द्वीपों में (बर्मा, जावा, बोर्निओ) घूमता-फिरता रहा। उन देशों के अधिकांश लोग अच्छे नहीं हैं। वे संकुचित विचार के हैं। इन्हीं अभिज्ञताओं का फल है "पथेर दावा"। घर में बैठे रहने या आराम कुर्सी पर लेटे रहने से साहित्य-निर्माण नहीं होता। इस तरह से अनुकरण अवश्य किया जा सकता है। किन्तु सत्य रूप में मनुष्यों को न देखने से साहित्य नहीं बनता। ये लोग क्या करते हैं? लोग एक पुस्तक से कोई 'कैरेक्टर' लेकर उसे ही जरा इधर-उधर बदल कर, एक दूसरा 'कैरेक्टर' तैयार कर देते हैं। मनुष्य क्या है, यह मनुष्य को देखे बिना समझा नहीं जा सकता। अत्यन्त कुत्सित दुराचार के भीतर भी मैंने ऐसा मनुष्यत्व देखा है, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे सभी अभिज्ञताएँ मेरे मन के भीतर असर डालने लगीं। मेरी स्मरण शक्ति बहुत ही अच्छी है। बाल्यकाल से ही अखण्ड है, वह नष्ट नहीं हुयी। किसी भी चीज को जान लेने की इच्छा मेरे मन में बराबर ही बनी रहती। मनुष्य

के भीतर जो सत्ता है उसका उद्‌बोधन ही मेरा उद्देश्य है। जिसका थोड़ा-सा भी स्खलन हो गया, मनुष्य उसको ही एकदम छोड़ देगा— यह कैसी बात हुई!

मैं मनुष्यों के भीतरी भाग पर बराबर ही नजर रखता हूँ। किसने क्या कहा, इस पर मैं ध्यान नहीं देता। दूसरों की अभिज्ञता को अपनी अभिज्ञता कहकर काम में लाना—यह तो मुझसे नहीं हो सकता। यह काम मैंने किसी दिन भी नहीं किया, कोई बहुत बड़ा अभागा ही ऐसा काम करेगा। वास्तविक जीवन देखने के लिए कूप मण्डूक होने से काम नहीं चलता। जिस अभिज्ञता के फल से गोर्की, टालस्टाय' शेक्सपीयर तक भी कूप-मण्डूक न रह सके। उनमें ऐसी संकीर्णता नहीं थी। ठोस रचना करने के प्रयास में कल्पना से काम नहीं चलता। इसमें अपनी अभिज्ञता अपेक्षणीय है। दूसरों के रचित साहित्य मैंने बहुत ही कम पढ़े हैं। मुझे ऐसा करना कुछ बहुत अच्छा नहीं लगता। मेरे घर में जो पुस्तकें हैं, उनमें अधिकांश ही सायन्स की पुस्तकें हैं। इसीलिए मेरी पुस्तकों में युक्ति की अवतारणा अधिक है। मेरी पुस्तकों में सौन्दर्य का वर्णन, स्वभाव का वर्णन प्रायः नहीं है। दो-चार बातों में ही मैं इस काम को पूरा कर देता हूँ। असल वस्तु, उसकी सत्ता या मन जो कुछ भी कहा जाय—वह मनुष्य के भीतर ही रहता है। उसको ही हृदयङ्गम करने के लिए प्रचण्ड अभिज्ञता चाहिये। मैंने अपनी अभिज्ञता का सञ्चय कैसे किया, इसका विस्तृत विवरण देना अनावश्यक है। फिर सभी बातें कहने योग्य भी नहीं होतीं। मनुष्य (संस्कारवश या दुर्बलता के कारण) उन्हें सह नहीं सकता। बहुत से लोग कहा करते हैं और ठीक ही कहते हैं—"आप के चरित्रों को पढ़ने से मालूम होता है, जैसे ये कल्पना की चीजें नहीं हैं।' मेरे चरित्रों का आधार नब्बे प्रतिशत सत्य है। किन्तु यह भी स्मरण रखना

होगा कि, जितने भी सत्य हैं, वे सभी साहित्य की सामग्री नहीं हैं। ऐसे अनेक सत्य हैं, जो साहित्य नहीं कहला सकते। किन्तु सत्य की नींव पर इमारत न खड़ी करने से चरित्र जीवन्त नहीं हो पाते। यह भी जरूरी नहीं कि ज्योंही कोई किसी चरित्र को अस्वाभाविक कह दे, त्योंही उसे बदल दिया जाय। मैंने जो चरित्र देखे हैं, परिपार्श्विक अवस्था के घात-प्रतिघातों के बीच से उसकी जो परिणति देखी है, वही मैं लिखता हूँ। इसीलिए मुझे डरने का कोई कारण नहीं है। लोग उनको अस्वाभाविक कहते हैं तो कहें, मैं उनकी बात नहीं मानूँगा। इस रीति से मेरा साहित्य जीवन तैयार हुआ है।

(चारु बाबू ने पूछा—आपकी गम्भीरतर साहित्यिक वस्तु कैसे गठित हुई? किसी भाव को आप कैसे रूप प्रदान करते हैं? ऐसी ललित भाषा आपको कहाँ मिली?—उत्तर में शरत् बाबू ने कहा—)

यह तो मैं बता नहीं सकता। भाषा आप ही आप आ जाती है। मेरे लिखने का तरीका साधारण लोगों से जरूर थोड़ा भिन्न है। पहले ही बता चुका हूँ—मेरी स्मरण शक्ति बहुत ही तेज है। बाल्यकाल से जो कुछ भी मैंने देखा है, सुना है, वे सभी बातें सर्वदा ही याद रहती हैं, ऐसा न समझ लें। किन्तु जरूरत पड़ने पर वे याद पड़ जाती हैं। पहले मैं चरित्र को ठीक कर लेता हूँ—एक, दो, तीन के क्रम से। गल्प को आरम्भ करना या चरित्रों को प्रस्फुटित करना—यह काम तो मेरे लिए अतिसहज है। बहुत से लोग कहते हैं—'हमें प्लाट नहीं मिलता, इसीलिए हम नहीं लिखते।' यह सुनकर मैं अवाक् हो जाता हूँ। इतनी बड़ी प्रकाण्ड पृथ्वी पड़ी हुई है, इतनी विचित्रताएँ हैं—और इन्हें

कोई प्लाट ही नहीं मिलता ! इसका कारण यही है कि ये लोग मनुष्यों को नहीं ढूँढते, गल्प को ही लेकर व्यस्त रहते हैं, कैसे लोगों का मनोरञ्जन होगा—मैं ऐसा कुछ नहीं करता।...मैं अच्छी भाषा नहीं जानता—मेरे पास शब्द-भंडार बहुत ही कम है—(तो भी) मेरी किताबें क्यों अच्छी लगती हैं, मैं नहीं जानता। जिस बात को मैं समझाना चाहता हूँ, उसे याद रखता हूँ—उसके लिए बहुत ही परिश्रम करता हूँ। 'वह' और 'वे' का प्रयोग खूब यत्न के साथ करना पड़ता है, परिमार्जन के साथ लिखना पड़ता है—स्वतः फव्वारा बनकर भाषा नहीं निकलती। जो लोग यह कहा करते हैं कि, जो कुछ भी लिख दूँगा, वही ठीक है—वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। जैसे जब कोई बोलने लगता है तो उसमें भी बहुत-सी असम्बद्ध बातें आ जाती हैं, उसी तरह लिखते समय भी अनेक असंगत बातें आ ही जाती हैं। अतः इस तरफ नजर रखने की जरूरत पड़ती है। जो भी धुन में आ जाय, वही करने लग जाऊँ, काम करने का मेरा ऐसा तरीका नहीं है। इसीलिए भूमिका के द्वारा मत समझाने की जरूरत नहीं पड़ती। मेरी किसी भी पुस्तक में भूमिका नहीं है। चार सौ पन्नों की पुस्तक पढ़ने से जो न समझ सकेगा, वह चार पन्नों की भूमिका पढ़कर क्या समझेगा? मैं पुस्तक के भीतर ही समझाने की चेष्टा करता हूँ—कोई भी बात दो अर्थ न प्रकट करे। इस पर नजर रखता हूँ। मेरे साथ किसी के मत का मेल भले ही न हो, किन्तु कोई भी यह न कहेगा कि, आपकी रचना मेरी समझ में नहीं आयी।

इसी सम्बन्ध में एक और बात है, जिसे मैं बराबर देखता आ रहा हूँ। साहित्य-रचना के लिए कुछ नियम भी हैं। यह देखना पड़ता है कि, रस-वस्तु अश्लीलता की श्रेणी में न आ जाय। श्लीलता-अश्लीलता के बीच एक ऐसी सूक्ष्म रेखा विद्यमान है, कि उसमें से एक इंच भी इधर-उधर खिसक जाने से ही सब कुछ अशिष्ट हो

जाता है—नष्ट हो जाता है। पैर जरा भी फिसल जाय तो फिर बचना नहीं हो सकता। अवश्य ही यह बात मैं रसिक व्यक्ति के ही बारे में कह रहा हूँ, समान्य साहित्य सर्वदा ही वर्जनीय है। मनोरञ्जन के लिए मैं किसी समय भी झूठ न बोलूँगा, यह काम मैं यथासाध्य नहीं करता। मुझे कठोर समालोचनाएँ खूब सहनी पड़ी हैं। गाली-गलौज की बाढ़ सी आ गयी थी। देश यह नहीं समझता कि ग्रन्थकार, कवि, चित्रकार—इनका जीवन साधारण लोगों के जीवन से भिन्न होता है। यहाँ के लोग इसे नहीं जानते। यह नहीं जानते कि स्नेह का प्रश्रय देकर ही इनको जीवित रखना पड़ता है। लोग चाहते हैं—कलाकारों को अभिज्ञता भी मिले, और वे हमारी तरह शान्त, शिष्ट, भद्र जीवन भी व्यतीत करें। ऐसा नहीं हो सकता। और यह दुःख की बात है कि हमारे देश की समालोचनाओं में व्यक्तिगत इङ्गित ही अधिक रहता है। हमारे यहाँ सभी समालोचनाएँ मनुष्य की ही की जाती हैं, पुस्तक की नहीं। इसीलिए बहुत से लोग भयभीत हो जाते हैं। 'बामुनेर-मेये' नामक मेरी एक पुस्तक है, बहुतों ने शायद उसे नहीं पढ़ा है। लिखते समय रवीन्द्रनाथ से बातचीत हुई थी। उनसे मैंने कहा, मैं ऐसी ही एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ। इस सम्बन्ध में मेरे अनेक व्यक्तिगत अनुभव हैं। उन्होंने कहा, 'अब तो कौलीन्य प्रथा नहीं है, किसी के १०० ब्याह अब नहीं होते—तो फिर उसी बात को पुनः रगड़ने से क्या प्रयोजन? किन्तु, यदि साहस हो तो लिखो, किन्तु कुछ मिथ्या कल्पना मत करना। पुरानी राख को मलते रहने में मेरी भी रुचि नहीं है। कौलीन्य प्रथा का मुझे कड़ा अनुभव हो गया था। जो लोग ब्राह्मण होने पर भारी गौरव अनुभव करते हैं और सोचते हैं—ब्राह्मण का रक्त बिना मिलावट का ही चला आ रहा है, यह उनकी भ्रान्त धारणा है। कौलीन्य को लेकर गड़बड़ी मैंने अपनी ही आँखों से देखी है। इतिहास की बात नहीं—स्वयं

जो कुछ देखा है, वही मैंने लिखा है। अनेक अनुभव हैं। ऐसे एक घर निमन्त्रण भी खा चुका हूँ। 'कौलीन्य' अच्छा है या बुरा, इस पर भी मैं विचार नहीं करता। यह बात मैं कहता भी नहीं हूँ। मैं यह बात कभी नहीं कहता कि वैद्य के साथ कायथ का ब्याह होने दो, किन्तु यदि कोई ऐसा ब्याह करता है, शिक्षा-दीक्षा में मेल पा जाता है, तो मैं कहता हूँ कि 'उसे बाधा मत दो।' उसने अच्छा किया या बुरा किया, यह वक्तव्य मेरा नहीं है। कम से कम वह मिथ्याचारी नहीं है, यह बात तो मैं कहूँगा ही। उसने जिस काम को अच्छा समझा उसको किया। सामाजिक तर्क उठाकर उसको बाधा देना उचित नहीं है। बहुत से लोग मुँह से कहते हैं—लड़कियों का विधवा-विवाह होने दो। किन्तु ज्योंही अपनी लड़की विधवा हो जाती है, त्योंही कहने लगते हैं—देखिये, मैं यह काम नहीं कर सकता। मुझे और भी पाँच लड़कियों का विवाह करना है इत्यादि इत्यादि। ऐसे मिथ्याचार को मैं अच्छा नहीं कहता। रवीन्द्रनाथ जिनकी जोड़ का दूसरा कोई महान प्रतिभाशाली संसार में फिर कभी उत्पन्न होगा या नहीं—वह भी यही बात कहते हैं। वे कहते हैं—'लिखो, किन्तु झूठ का आश्रय मत लो।—मैं कुलीन ब्राह्मण हूँ, मुझे भी यह चोट लगेगी, इस भावना से ऐसा काम मत करो। (झूठ के द्वारा चरित्र का गठन नहीं हो सकता, जहाँ गठन होता है, वहाँ झूठ हो जाता है, अस्वाभाविक भी हो जाता है। पुस्तक प्रकाशित हो गयी! आक्रमणों का कोई अन्त ही नहीं रहा! चारो तरफ से बेयरिंग चिट्ठियाँ आने लगीं।

जब उनसे राजनीति के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए अनुरोध किया गया और यह पूछा गया कि स्वराज आन्दोलन कैसा चल रहा है, तो शरतबाबू ने कहा—आप क्यों आन्दोलन में भाग लेते हैं?

आन्दोलन तो ठीक ही चल रहा है। किन्तु इस सम्बन्ध में मैं कुछ भी न कह सकूँगा।

लिखने के विषय में पूछे जाने पर शरत् बाबू बोले—

जब मैं लिखने लगता हूँ तब दूसरी दुनियां में पहुँच जाता हूँ। घर पर सबको मैंने निर्देश कर रक्खा है कि—जब मैं लिखने लगूं, तो कोई मुझसे कुछ भी न पूछे। पूछने पर जो कुछ उत्तर मिले, उसके ऊपर विश्वास न करे।

भाषा तो आप ही आप आ जाती है। कैसे बातें एक जगह जुट जाती हैं, यह बताना कठिन है। शैली गूढ़ वस्तु है। यह अपनी ही होती है, अनुकरण से यह सम्भव नहीं।

गोस्वामी जी सहसा बोल उठे—"आप मुँह से जो कुछ भी क्यों न कहें, आपकी रचना पढ़ने से मुझे यही जान पड़ता है कि आप सनातन धर्म की मर्यादा-हानि नहीं चाहते। जब देखता हूँ कि, 'चरित्रहीन' पुस्तक में वह लड़की स्टीमर पर एक ही बिछावन पर एक बालक के साथ रहकर भी अपने शरीर को नष्ट नहीं होने देती, तब भी क्या हम कहेंगे कि, आपने सनातन धर्म को नहीं माना है! आपके हृदय में जो अलौकिक धर्म विश्वास है, क्या वही उस लड़की के चरित्र की रक्षा करने का कारण नहीं है?" इस पर शरत् बाबू ने कहा—)

आप मेरा उद्देश्य ठीक नहीं समझ सके, आप जो बात कह रहे हैं, उस भाव से मैं कुछ भी नहीं करता। यदि वह लड़की अपना शरीर नष्ट भी कर देती, तो उससे मेरी कोई हानि नहीं थी। किन्तु वह चरित्र एकदम असत्य हो जाता। वह सुशिक्षिता लड़की थी, वह एक जिद में पड़कर उस बालक को लेकर भाग चली थी। वह एक गँवार बालक मात्र था, वह किसी तरह भी उसकी समता में नहीं आता था,

उसीके द्वारा यदि वह अपने शरीर को नष्ट होने देती, तो वह चरित्र मिट्टी में मिल जाता।

इस आलोचना से मुझे आनन्द मिला। ऐसी आलोचना-सभा की आवश्यकता है। देश को किस उपाय से बड़ा बना दिया जाय, इस पर विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं। विभिन्न चेष्टाओं का सामञ्जस्य होना चाहिये। इससे लाभ होगा। आजकल बहुत से लोग लिख रहे हैं, किन्तु उनमें से बहुतों को ही ठीक लेखक नहीं कह सकते। उनकी रचना में ठीक संयम नहीं दिखाई पड़ता। यौन-सम्बन्ध को लेकर उन्होंने ऐसी गड़बड़ी कर दी है कि, उनकी रचनाएँ साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। इन रचनाओं की अधिकांश सामग्री बाहर से लायी गयी है। अपनी अभिज्ञता कुछ भी नहीं है, दूसरों की ही बातों को इधर-उधर उलट-पलट कर रचनाओं को मिट्टी में मिला दिया गया है।....

मैं मनुष्य को बहुत बड़ा समझता। हूँ। उसको छोटे रूप में देखने की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता।"

हमारी प्रकाशित नवीन पुस्तकें

नादिरशाह

फारस का लाल बादल, जिसे सिर्फ लहू बरसाना आता था। जिस रास्ते निकल जाता, वहीं राख के ढेर और खून के डबरे नजर आने लगते। दुनिया के बादशाहों में भले ही उसकी गिनती न हो, पर शब्द-कोष में एक नया शब्द दे गया—नादिरशाही!

इतिहास के अत्यन्त खूँख्वार व्यक्ति का अद्भुत, रोंगटे खड़े कर देने वाला मनोवैज्ञानिक चित्रण। दिल्ली का कत्लेआम, मुहम्मदशाह रँगीला, सैय्यद बन्धु, आदि का सजीव चित्रण। इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित हिन्दी का पहिला श्रेष्ठ उपन्यास। लेखक—श्री गोविन्दसिंह। मूल्य—पाँच रुपया।

टीपू सुल्तान

स्वातन्त्र्य युद्ध का एक वीर सेनानी जिसने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये, जिसने देश के लिये स्वयं तथा अपने परिवार को स्वतंत्रता की बलिवेदी पर स्वाहा कर दिया। जिसके नाम से शत्रु काँपते थे। भारत का सच्चा सेवक, स्वतन्त्रता का पुजारी एवं त्याग की प्रतिमूर्ति, 'टीपू सुल्तान' भारतीय इतिहास का एक उज्ज्वल रत्न है। लेखक—महेशकुमार शर्मा। मूल्य ४)

बाजीराव मस्तानी

हमारे ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में नवीन कीर्तिमान। मराठा-मुगल-काल की आग भरी कहानी, जिसने भारतीय इतिहास को

ऐसी मोड़ दी थी, जिसमें हिन्दुत्व-शौर्य, देशाभिमान, बलिदान की गौरव-मयी परम्परायें सदा-सदा के लिए धूल-धूसरित हो उठीं।

पेशवा बाजीराव और उनकी प्रेयसी मस्तानी की ऐतिहासिक प्रेम-कथा को, लोकप्रिय केशर ने, अपनी चत्कारपूर्ण भाषा-शैली में, अत्यन्त मोहक रूप में प्रस्तुत किया है।

पृष्ठ संख्या ३०० * साढ़े चार रुपये

श्री मन्मनाथ गुप्त लिखित

दो केंचुल एक साँप

नाम से ही विषय स्पष्ट है—एक व्यक्ति किसी तरह अपने दो रूपों में, लोगों को भड़काकर विनाश उपस्थित करता है, किस तरह उसका भण्डाफोड़ होता है और क्या परिणाम होता है, इसको पढ़कर आप आश्चर्यचकित रह जायेंगे। आदि से अन्त तक रोचकता की पर्याप्त सामग्री आपको इस पुस्तक में मिलेगी। रोमाञ्च, रोमांस का पुलकित कर देनेवाला क्रान्तिकारी कथानक। मूल्य ५)

बारूद और बुरादा

चित्रपट-निर्माण में व्यस्त एक कलाकार की करुण कहानी। रुपया लगानेवाले सेठ किस प्रकार कलाकारों को अपने ढाँचे में ढाल उनकी प्रतिभा की हत्या कर डालते हैं—किस तरह ये नायक-नायिकाओं के साथ खिलवाड़ कर, उनके जीवन को अस्त-व्यस्त कर, राह पर भटकने को विवश कर देते हैं, इसका रोमाञ्चकारी चित्रण पढ़कर आप आपा खो बैठेंगे। मूल्य ४।।।